प्राक्कथन।

आज हम पाठकों के सम्मुख अलङ्कार विषय पर 'अलङ्कारकौमुदी' एक नई पुस्तक उपस्थित करते हैं। इस पुस्तक में अलङ्कारों की विवेचना नहीं है, किन्तु सरल भाषा में अलङ्कारों को समझाने का उद्योग किया गया है। 'अलङ्कार-कौमुदी' में सात उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य का लक्षण और उसके भेद बताए गए हैं। द्वितीय में शब्द और अर्थ का स्वरूप बताकर अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का निरूपण किया गया है। तृतीय में रस का निरूपण है। चतुर्थ में शब्दालङ्कार हैं, पञ्चम में अर्थालङ्कारों का निरूपण है, षष्ठ में शब्दार्थोभयालङ्कार हैं और सप्तम में संसृष्टि और संकर का निरूपण करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया है।

इस पुस्तक की कुछ विशेषताएं

इसमें केवल अलङ्कारों का ही निरूपण नहीं है किन्तु काव्यार्थ को समझने के लिये जिन बातों का ज्ञान आवश्यक है उनका भी ग्रन्थारम्भ में संक्षेप से निरूपण किया गया है। अलङ्कारों के लक्षण सरल सुबोध गद्य में लिखे गए हैं, टिप्पणी में प्रायः प्रत्येक अलङ्कार का पद्यात्मक लक्षण भी दे दिया गया है। इस से विद्यार्थियों को लक्षण याद करने में सुविधा होगी। उदाहरण प्रायः छोटे और सुगम दिये गए हैं। प्रत्येक लक्षण का विस्तार के साथ उदाहरण में समन्वय किया गया है।

जहां आलङ्कारिकों में परस्पर मतभेद है वहां संक्षेप में दूसरे मत का उल्लेख कर दिया है। जिन अलङ्कारों में समानता प्रतीत होती है उनका निरूपण इस क्रम से किया गया है कि एक के बाद दूसरे का अध्ययन करने से उनका परस्पर भेद आसानी से समझ में आ सकता है, और उन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने में सुविधा हो सकती है। जिन २ अलङ्कारों का परस्पर भेद बताना आवश्यक था उनका भेद सरल शब्दों में लिख दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधार

हिन्दीसाहित्य के आलङ्कारिक ग्रन्थ प्राय' चन्द्रालोक या कुवलयानन्द के आधार पर बने हैं। परन्तु हम ने 'अलङ्कार-कौमुदी' में काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द और रसगङ्गाधर के आधार पर अलङ्कारों के लक्षण लिखे हैं। जहा २ हमें इन ग्रन्थों का हिन्दी के अलङ्कार ग्रन्थों से भेद जान पडा, वहा हम ने उसका उल्लेख कर दिया है।

अलङ्कार-कौमुदी को लिखने में हम ने निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली है—

काव्यप्रकाश—(मम्मटभट्टकृत)

चित्रमीमासा—अप्पयदीक्षितकृत।

कुवलयानन्द— ,, ,,

रसगङ्गाधर—पण्डितराज जगन्नाथकृत।

साहित्यदर्पण—कविराजविश्वनाथकृत।

साहित्यदर्पण की विमला टीका—विद्यावाचस्पति श्रीशालग्रामशास्त्रि साहित्याचार्यकृत।

काव्यप्रभाकर—'भानु' कविकृत।

हिन्दी रसगङ्गाधर—साहित्याचार्य श्रीपुरुषोत्तमचतुर्वेदिकृत।

काव्यकल्पद्रुम—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत।

रस और अलङ्कार—श्रीकिशोरीदासवाजपेयिकृत।

अलङ्कार-मञ्जूषा—लाला भगवानदीनकृत।

भारती-भूषण—सेठ अर्जुनदासकेडियाकृत।

हिन्दी अलङ्कार-प्रबोध—अध्यापकरामरत्नकृत।

सतसईसप्तक—श्रीश्यामसुन्दरदास-सम्पादित।

ललितललाम—कविवरमतिरामकृत।

भूषणग्रन्थावली—कविवरभूषणकृत।

सरल अलङ्कार—स्वामिनरोत्तमदासकृत।

इन ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों के प्रति हम अपनी विनयपूर्ण हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं और उन्हें इस उपकार के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

यद्यपि 'गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत.'—मार्ग में चलते हुए कहीं न कही अनवधानवश ठोकर लग ही जाती है—इस कहावत के अनुसार 'अलङ्कार-कौमुदी' भी निर्दोष नहीं हो सकती, तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह कौमुदी सदोष होकर भी अवश्य अपने पाठकों को अलङ्कारों का परिचय कराने में अच्छी सहायता देगी। अन्त में हम पाठको से इतना अवश्य कहेंगे कि यदि दोष ढूढने की दृष्टि से ही किसी वस्तु का निरीक्षण किया जाय तो उस वस्तु में सिवाय दोष के कोई गुण नजर नहीं आता, होते

हुए भी गुण, दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। पीलिया रोग वाले को सब चीज पीली ही दीखती हैं। इसलिये किसी वस्तु से लाभ उठाने के लिये मनुष्य को 'गुणदृष्टि' होना आवश्यक है।

यद्यपि यह पुस्तक पिछले अक्तूबर (१९३२) में लिखी जा चुकी थी परन्तु कई कारणों से अगस्त (१९३३) तक इसका मुद्रण रुका रहा। अन्तत कई मित्रों के अनुरोध से 'मनोहर इलैक्ट्रिक् प्रिन्टिङ्ग प्रेस सैदमिट्ठा लाहौर' में इसको मुद्रित कराने का विचार किया। हम उपर्युक्त प्रेस के स्वामी श्री लाला खजाञ्चीराम जी को भी धन्यवाद दिए विना नहीं रह सकते कि जिन्हों ने 'प्रूफरीडिङ्ग' आदि का सुप्रबन्ध करके इस पुस्तक को इतना शीघ्र मुद्रित कर दिया।

इस पुस्तक के सशोधन आदि कार्य में श्रीयुत प० विजयानन्द खण्डूड़ी शास्त्री ने भी हमारी सहायता की है अत उन्हें भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

८।९।३३ स० ध० सस्कृत कालेज
लाहौर।

—परमेश्वरानन्द

विषयानुक्रमणिका

——:o:——

पञ्चम उल्लास

श्री॰

अलङ्कार-कौमुदी

प्रथम उल्लास

वाचा देवीं नमस्कृत्य पुरस्कृत्य गुरोर्गिरः ।
अलङ्कारावबोधाय कुर्वेऽलङ्कारकौमुदीम् ॥

काव्य लक्षण

रमणीय अर्थ को बताने वाले शब्द का नाम काव्य है।

जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द का अनुभव हो, उसे 'रमणीय' अर्थ कहते हैं। यद्यपि "तुम्हारे घर बालक जन्मा है और तुम्हारे नाम एक लाख की लाटरी निकली है" इत्यादि वाक्यों को सुनकर भी श्रोता के हृदय में एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है तथापि वह आनन्द साधारण लौकिक आनन्द है, अलौकिक नहीं। इसी लिये ऐसे वाक्यों को काव्य नहीं कहते।

"अमी हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥"

इस दोहे का अर्थ चमत्कार युक्त होने से सहृदय पुरुषों के अलौकिक आनन्द का हेतु है, इसलिये यह 'काव्य' है।

काव्यभेद

काव्य तीन प्रकार का है—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम काव्य

जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कारी हो, उसे उत्तम काव्य कहते हैं।

उत्तम काव्य का दूसरा नाम 'ध्वनि' काव्य भी है। 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थ का लक्षण द्वितीय उल्लास में लिखेंगे।

उदाहरण—

प्रथम वृष्टि की बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर पीड़ित कर अधर कुचों पर चूर चूर होकर बिखरे।
तदनन्तर सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लङ्घन कर,
बड़ी देर मे पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि भीतर।

(कुमारसभवसार महावीरप्रसाद द्विवेदी)

'भगवान् शङ्कर मेरे पति हों' इस मनोरथ की सिद्धि के लिये भगवती पार्वती तपस्या कर रही हैं। उनको तपस्या में

बैठे हुए बहुत समय व्यतीत हो गया है। उन्होंने तपस्या में बैठे २ ग्रीष्म ऋतु की—शरीर को झुलसा देने वाली लुएँ आनन्द-पूर्वक झेलीं। अब वर्षा काल का आरम्भ है। इस पद्य में वर्षा की पहली पहली बूँदें तपस्या में मग्न पार्वती के शरीर पर गिर कर किस क्रम से उनकी नाभि तक पहुँची है, इसका वर्णन है।

"पहले बूँदें पलकों पर गिरीं, वहां क्षण भर ठहर कर निचले होंठ पर लुढ़क पड़ीं, फिर वहां से स्तनों पर गिर कर चूर चूर हो गईं और पेट की वलियों (सलवटों) में जा पहुँचीं। इस तरह सहज २ बहुत विलम्ब से वे नाभिसरोवर में जा गिरीं"—यह इस पद्य का सरल भावार्थ है। इससे पार्वती की 'समाधि अवस्था' व्यञ्जित होती है।

समाधि की अवस्था में नजर नाक के अग्रभाग पर टिकी रहती है, आँखें एकदम बन्द या खुली हुई नहीं रहतीं, किन्तु अधखुली रहती हैं, मुँह बिलकुल बन्द रहता है, शरीर हिलता डुलता नहीं है, छाती आगे निकली हुई होती है।

'वरोनियों पर कुछ ठहरे' इससे यह व्यञ्जित होता है कि पार्वती की आंखें अधखुली थीं और दृष्टि नाक के अगले हिस्से पर टिकी हुई थी। यदि आंखें बिलकुल बन्द होतीं तो पलकें नीचे झुक जातीं। यदि एकदम खुली हुई होतीं तो पलकें ऊपर हो जातीं। दोनों दशाओं में बूँदो का ठहरना असम्भव

था। अधखुली आंखों में ही पलकों पर बूँदें ठहर सकती हैं। यदि दृष्टि सामने होती, नाक के अग्रभाग पर न होती तो अधखुली आखों मे भी पलकों में ढलाव कम होता और पानी की बूँदें 'कुछ' की बजाय अधिक ठहरतीं, परन्तु यहां तो 'कुछ' ठहरीं. अधिक नहीं।

बूँदे मुख के भीतर नहीं गईं किन्तु अधरोष्ठ (निचले होंठ) को ताड़ित करके नीचे की ओर ढलक गईं। इससे मुख का बन्द होना व्यञ्जित होता है। यदि मुख खुला होता तो बूँदे उधर से नीचे न गिरकर मुख के अन्दर ही जातीं।

फिर वही बूँदें स्तनों पर गिरीं और चूर चूर होकर बिखर गईं। इससे छाती का आगे होना व्यञ्जित होता है। यदि पार्वती जी आलसी की तरह झुक कर बैठतीं तो स्तन आगे न होते और उन पर बूँदें न गिर पातीं।

झुककर बैठने से पेट की वलियों (सलवटों) के अन्दर गई हुई पानी की बूँदें फैलकर तिरछी ही चलतीं और उन्हीं के अन्दर रहतीं, नाभि में किसी तरह भी न जा सकतीं। परन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ। बूँदे सलवटों से निकल कर नाभि मे किसी तरह पहुँच ही तो गईं। इससे भी यही व्यञ्जित होता है कि पार्वती कमर के बल छाती आगे किए हुए समाधि के आसन मे बैठी हुई है।

पलकों से अधर पर, अधर से छाती पर, इत्यादि बूँदो के गिरने का क्रम बताने से 'निश्चलता' व्यञ्जित होती है। यदि शरीर निश्चल न होता, हिलता डुलता रहता तो बूँदों के गिरने का यह क्रम कदापि न होता। हिलने डुलने के कारण पलकों से बूँदें सीधी नीचे अधर पर न गिरकर और किसी अङ्ग में गिर सकती थीं।

इन्हीं विशेषणों से भगवती पार्वती का 'अलौकिक सौन्दर्य' भी व्यञ्जित होता है। 'ठहरे' कहने से पलकों की घनता प्रतीत होती है। घने पलकों पर बूँद ठहर सकती है, विरलों पर नहीं। 'कुछ ठहरे' ऐसा कहने से पलकों की स्निग्धता (चिकना-पन) व्यञ्जित होती है। चिकनी चीज पर पानी अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। जो वस्तु ऊपर से ठहर २ कर गिरती है उसका वेग कुछ कम हो जाता है। यहा भी आकाश से गिरी हुई बूँदों का वेग पलकों पर ठहरने से कुछ कम हो गया है, परन्तु फिर भी उन्होंने पलकों से गिर कर अधर को पीड़ित किया। इससे अधर का अत्यन्त सौकुमार्य व्यञ्जित होता है। इस प्रकार कई जगह ठहरने पर यद्यपि बूँदों का वेग अत्यन्त न्यून हो गया है तथापि वे स्तनों पर गिर कर चूर चूर हो जाती हैं। इससे स्तनों का 'अति काठिन्य' व्यञ्जित होता है। कमर के वल छाती आगे करके बैठने पर भी पेट की सल-वटो में बूँदों के रुकने से उन (सलवटों) की 'स्पष्टता'

(साफ २ प्रतीत होना) व्यञ्जित होती है। सब बूँदों का नाभि में प्रवेश बताने से नाभि की अति गम्भीरता (अत्यन्त गहराई) व्यञ्जित होती है। किसी भी स्त्री के उत्तम सौन्दर्य का लक्षण यही है कि उसकी आखों की पलकें घनी और चिकनी हों, अधर ओष्ठ अत्यन्त मृदु हो, स्तन कठिन हों, पेट में बलियां पड़ी हों, नाभि गहरी हो, इत्यादि। ये सब गुण पार्वती के शरीर में विद्यमान हैं।

यहां पूर्वोक्त दोनों व्यङ्ग्य (समाधि की अवस्था और अलौकिक सौन्दर्य) वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी हैं, इसलिये यह उत्तम काव्य है।

मध्यम काव्य

जहां व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी न हो या स्वयं वाच्य अर्थ का अङ्ग (उपकारक) हो गया हो, उसे मध्यम काव्य कहते हैं।

इसका दूसरा नाम 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' भी है। क्योंकि इसमें वाच्य अर्थ ही प्रधान रहता है और व्यङ्ग्य अर्थ गुणीभूत (अप्रधान) हो जाता है।

उदाहरण—

"उन्निद्र रक्त अरविन्द लगे दिखाने,
गुञ्जार मञ्जु अलिपुञ्ज लगे सुनाने।

ऐ ! देख तू उदय अद्रि लगा सुहाने,
बन्धूक पुष्प छवि सूर्य लगा चुराने ॥"

(काव्यकल्पद्रुम)

यहाँ 'प्रातःकाल हो गया' यह व्यङ्ग्यार्थ है परन्तु यह वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं है । इसलिये मध्यम काव्य है ।

दूसरा उदाहरण—

"रघुवर विरहानल तपे, सह्य शैल के अन्त ।
सुख सों सोए शिशिर में, कपि कोपे हनुमन्त" ॥

(हिन्दी रसगङ्गाधर)

"भगवान् राम की विरहाग्नि से तपे हुए सह्य पर्वत पर जाड़े के दिनों में सुख की नींद सोने वाले वानर हनूमान् जी पर कुपित हो रहे है ।" यह इस पद्य का वाच्य अर्थ है । "सीता जी का कुशल समाचार सुनाकर हनूमान् जी ने रामचन्द्र जी को शीतल कर दिया, जिससे उनका विरह ताप शान्त हो गया । विरह ताप के न होने से सह्य पर्वत भी ठण्डा पड़ गया, वानरों को ठण्ड सताने लगी और नींद हराम हो गई ।" यह व्यङ्ग्य अर्थ है । परन्तु यह व्यङ्ग्य अर्थ पूर्वोक्त वाच्य अर्थ का साधक है, क्योंकि जब तक "सह्य पर्वत का ठण्डा होना उन पर रहने वाले वानरों को ठण्ड

लगना" इत्यादि अर्थ प्रतीत न हो तब तक वानरों का हनूमान् जी पर क्रोध करना संगत नहीं होता। इसलिये यहां व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारी होने पर भी वाच्यार्थ का उपकारक होने से गुणीभूत (अप्रधान) हो गया।

अधम काव्य

जहां केवल शब्द या वाच्य अर्थ में ही चमत्कार हो, उसे 'अधम काव्य' कहते हैं।

इसका दूसरा नाम चित्रकाव्य भी है। इसके तीन भेद हैं—शब्दचित्र (शब्दालङ्कार युक्त), अर्थचित्र (अर्थालङ्कार युक्त) और उभयचित्र (शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों से युक्त)। इनके लक्षण और उदाहरण विस्तारपूर्वक आगे दिये जायँगे।

द्वितीय उल्लास

शब्द विशेप का नाम काव्य है, यह बात प्रथम उल्लास में बताई जा चुकी है। शब्द और अर्थ ही काव्य पुरुष के शरीर हैं। काव्य ज्ञान के लिये इनका स्वरूप ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिए यहा सक्षेप से इनका स्वरूप ज्ञान कराते हैं।

शब्द

जिसमें शब्दना–अर्थ बोधन करने की शक्ति–हो, उसे 'शब्द' कहते है।

अर्थ

जो शब्द के द्वारा बताया जाय, उसे 'अर्थ' कहते हैं।

'अर्थ' को 'पदार्थ' भी इसी लिये कहते हैं कि वह पद (शब्द) से बताया जाता है।

शब्द की शब्दना (अर्थबोधन करने की शक्ति) तीन प्रकार की है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन तीन शक्तियों के कारण शब्द के भी तीन भेद हो जाते हैं—वाचक, लक्षक और

व्यञ्जक। इन तीन प्रकार के शब्दों के क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य।

अभिधा

जिस शक्ति से शब्द अपने स्वाभाविक-साधारण बोल चाल में प्रसिद्ध-अर्थ को बताता है, उसे 'अभिधा' कहते हैं।

स्वाभाविक अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहलाता है। वाचक के अर्थ को वाच्य कहते हैं। जैसे 'गाय घास चर रही है' 'बागीचों में फूल खिल रहे हैं' इन वाक्यों में गाय, घास, बागीचा, फूल आदि शब्द अभिधा शक्ति से अपने २ साधारण अर्थों को बताते हैं, इसलिये ये 'वाचक' हैं और गउ, तृण आदि इनके 'वाच्य' अर्थ हैं।

लक्षणा

वाच्य अर्थ को न बताकर उस (वाच्य) के साथ सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को बताने वाली शब्द की शक्ति का नाम लक्षणा है।

जो शब्द लक्षणा से अर्थ को बतावे, उसे 'लक्षक' कहते हैं। लक्षक के अर्थ को 'लक्ष्य' कहते हैं।

इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि यह लक्षणा शक्ति वहीं अपना काम करेगी जहां वाच्य अर्थ को बताने में वक्ता

का तात्पर्य न हो या वाच्य अर्थ असगत हो और रूढि (प्रसिद्धि) हो या कोई विशेष प्रयोजन हो।

रूढि का उदाहरण जैसे—

"देवदत्त सदा अपने काम में चौकन्ना रहता है"

यहां 'चौकन्ना' शब्द का वाच्य अर्थ 'चार कानों वाला' है। परन्तु इस अर्थ को बताने में न तो वक्ता का तात्पर्य ही है और न यह अर्थ यहां संगत होता है, क्योंकि देवदत्त के दो ही कान हैं, चार नहीं। इसलिये यहां 'चौकन्ना' शब्द अपने वाच्य अर्थ (चार कानों वाले व्यक्ति) को न बता कर लक्षणा से 'सावधान' इस अर्थ को बताता है, अर्थात् देवदत्त सदा अपने काम में सावधान रहता है। यहा चौकन्ना और साव-धान का 'सादृश्य' सम्बन्ध है। जैसे चार कानों वाला व्यक्ति दाएँ बाएँ आगे पीछे सब तरफ होने वाले शब्दों को सुन लेता है, कोई शब्द उससे नहीं छूटने पाता। इसी तरह साव-धान व्यक्ति भी अपने काम में कोई त्रुटि नहीं छोड़ता। यह लक्षणा 'रूढि लक्षणा' है, क्योंकि 'चौकन्ना' शब्द का प्रयोग सदा 'सावधान' अर्थ में ही होता आया है, चार कानों वाले व्यक्ति में नहीं। इसी तरह 'शिवा जी रण में बड़े कुशल थे' इस उदाहरण में 'कुशल' पद की 'चतुर' में रूढि लक्षणा है। कुशल पद का 'कुशा लाने वाला' यह वाच्य अर्थ है। वह यहां ठीक नहीं बैठना।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण जैसे—

'आम आम ही है' इस वाक्य में आम शब्द दो बार आया है। यहां पहला 'आम' शब्द अपने वाच्य अर्थ प्रसिद्ध आम फल को बताता है। दूसरे 'आम' शब्द का अपने वाच्य अर्थ में तात्पर्य नहीं है। यदि उसका भी अपने वाच्य अर्थ में ही तात्पर्य हो तो आम को आम बताना व्यर्थ सा प्रतीत होगा, क्योंकि आम आम के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इसलिये यहां दूसरा आम शब्द लक्षणा वृत्ति से रस, सुगन्ध आदि गुणों वाले आम का बोधक होता है। वाच्य अर्थ का लक्ष्य अर्थ के साथ सामान्य विशेष भाव सम्बन्ध है, क्योंकि वाच्य अर्थ सामान्य आम है, लक्ष्य अर्थ विशेष आम है। आम में रस, सुगन्धि आदि गुणों की अधिकता बताना ही यहां लक्षणा का प्रयोजन है।

दूसरा उदाहरण—

'गङ्गा पर आश्रम है'

यहां गङ्गा शब्द का वाच्य अर्थ है गङ्गा नदी, जो जल-प्रवाह रूप है। उसमें आश्रम का होना सर्वथा असंगत है। इसलिये यहां गङ्गा शब्द लक्षणा से गङ्गा-तीर का बोधक होता है अर्थात् गङ्गा-तीर पर आश्रम है। गङ्गा का और तीर का सामीप्य सम्बन्ध है। तीर गङ्गा के समीप है। तीर में शीत-

लता और पवित्रता की प्रतीति कराना ही यहा लक्षणा का प्रयोजन है।

तीसरा उदाहरण—

'देवदत्त तो शेर है उसके क्या कहने'

यहां देवदत्त के लिये शेर शब्द का प्रयोग किया गया है, जो वास्तव में शेर नहीं है। इसलिये यहां शेर शब्द अपने वाच्य अर्थ—जंगली पशुविशेष को न बताकर लक्षणा से 'शेर के सदृश' इस अर्थ का बोधक होता है अर्थात् जैसे शेर शूरवीर होता है, वैसे ही देवदत्त भी शूरवीर है। देवदत्त और शेर का सादृश्य सम्बन्ध है। शूरता आदि की अधिकता बताना ही यहां प्रयोजन है। इसी प्रकार 'वह तो निरा बैल है' 'वह भारत का सूर्य है' इत्यादि उदाहरणों में 'बैल' 'सूर्य' आदि शब्द लक्षणा से 'बैल सदृश जड़' 'सूर्य के सदृश प्रतापी' इत्यादि अर्थों के बोधक होते हैं। जड़ता और प्रताप की अतिशय (आधिक्य) प्रतीति ही प्रयोजन है। यह लक्षणा दो प्रकार की है—शुद्धा और गौणी।

शुद्धा लक्षणा

जहां वाच्य अर्थ का लक्ष्य अर्थ के साथ सादृश्य सम्बन्ध न हो और कोई सम्बन्ध हो, वहां शुद्धा लक्षणा होती है।

'आम आम ही है' इत्यादि शुद्धा के उदाहरण हैं।

गौणी लक्षणा

जहां वाच्य अर्थ का लक्ष्य अर्थ के साथ सादृश्य सम्बन्ध हो, वहां गौणी लक्षणा होती है।

'देवदत्त तो शेर है' इत्यादि गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं।

व्यञ्जना

जो अर्थ अभिधा और लक्षणा से नहीं बताया जा सकता, उसको बताने वाली शक्ति का नाम 'व्यञ्जना' है।

व्यञ्जना से युक्त शब्द को 'व्यञ्जक' कहते हैं। व्यञ्जक का अर्थ 'व्यङ्ग्य' कहलाता है।

यह व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—एक अभिधामूला और दूसरी लक्षणामूला।

अभिधामूला व्यञ्जना

अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में यदि वक्ता का अभिप्राय किसी एक विशेष अर्थ में हो तो वहां दूसरा अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत होता है और उस व्यञ्जना का नाम अभिधामूला व्यञ्जना है।

उदाहरण जैसे—

"करमाल लिये सुकलानिधि ये द्विजराज फिरैं जगके हित को।"

यहां 'कर' 'कला' और 'द्विजराज' ये शब्द अनेकार्थक हैं। 'कर' का अर्थ है 'हाथ' और 'किरण'। 'कला' का अर्थ है 'विद्या' और 'भाग' या हिस्सा और 'द्विजराज' का अर्थ है 'ब्राह्मण' और 'चन्द्रमा'। क्योंकि यहां वक्ता का अभिप्राय परोपकारी विद्वान् ईश्वरभक्त ब्राह्मण की स्तुति में है। इसलिये यहा 'कर' का अर्थ 'हाथ' ही लिया जायगा, कला का अर्थ 'विद्या' ही और द्विजराज पद का अर्थ 'ब्राह्मण' ही। इस प्रकार इस पद्यांश का अर्थ यों होगा कि "हाथ में माला लिये हुए विद्याओं का निधि यह विप्र ससार के हित के लिये भ्रमण करता रहता है।" परन्तु "किरणों की माला धारण किये हुए, कलाओं से युक्त यह चन्द्रमा जगत् के हित के लिये आकाश में भ्रमण करता है" यह चन्द्रसम्बन्धी दूसरा अर्थ भी यहा प्रतीत होता है। यह 'अभिधा' शक्ति से तो प्रतीत हो नहीं सकता, क्योंकि 'अभिधा' तो प्रकरण के द्वारा ब्राह्मण सम्बन्धी अर्थ को बताकर अपना काम कर चुकी, अब उसका सामर्थ्य नहीं है कि वह दूसरे अर्थ को बता सके। इसलिये यह दूसरा अर्थ अभिधामूला व्यञ्जना शक्ति से ही प्रतीत हुआ। यहां अभिधा के द्वारा बोधित अर्थ भी वक्ता को विवक्षित (अभिप्रेत) रहता है। इसलिये इसे अभिलामूलक ध्वनि कहते हैं।

पूर्वोक्त उदाहरण में अभिधामूला व्यञ्जना शाब्दी है। क्योंकि वह शब्दाश्रित है। कर, कला, द्विजराज इन शब्दों

को यदि हम बदल दें तो द्वितीय अर्थ प्रतीत नहीं होगा। जहां शब्द बदल देने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत हो, वहां आर्थी अभिधामूला व्यञ्जना होगी। उदाहरण जैसे, किसी ने कहा—'सूर्यास्त हो गया' यहां यदि कहने या सुनने वाला कोई ब्रह्मचारी आदि है तो 'सन्ध्या, हवन का समय हो गया है' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होगा। यदि ग्वाले से यह बात कही गई है तो 'गौओं को गोशाला में प्रवेश कराओ' यह अर्थ व्यञ्जित होगा। यदि कोई मजदूर अपने सहचारियों से यह बात कहता है तो 'काम बन्द करना चाहिये' यह प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि कहने सुनने वालों के भेद के कारण एक ही वाक्य से अनेक अर्थ व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत हो जाते हैं। यहां यदि 'सूर्यास्त हो गया' इसके स्थान में इसी के समानार्थक 'प्रभाकर छिप गया है' 'रवि डूब गया है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करें तब भी पूर्वोक्त अर्थ अवश्य व्यञ्जित होंगे। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि यहां व्यञ्जना का सम्बन्ध प्रधानतया शब्द के साथ नहीं किन्तु अर्थ के साथ है। अर्थाश्रित होने के कारण इसको आर्थी व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणामूला व्यञ्जना

लक्षणा की सहायता से व्यङ्ग्यार्थ को बोधित करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा मूला व्यञ्जना है।

सहृदय वक्ता वाच्य अर्थ को बताने के लिये जहां वाचक शब्द का प्रयोग नहीं करता किन्तु किसी विशेष अर्थ की प्रतीति कराने के लिये लक्षक शब्द का प्रयोग करता है, वहां विशेष अर्थ की प्रतीति लक्षणामूला व्यञ्जना से होती है।

जैसे 'गङ्गा तट पर आश्रम है' या 'गङ्गा पर आश्रम है' इन दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम वाक्य में तट रूप अर्थ 'तट' इस वाचक शब्द के द्वारा अभिधा वृत्ति से बताया गया है, दूसरे में वही अर्थ 'गङ्गा' इस लक्षक शब्द के द्वारा लक्षणावृत्ति से। परन्तु सहृदय वक्ता 'गङ्गा के तट पर आश्रम है' ऐसा न कहकर 'गङ्गा पर आश्रम है' इस प्रकार लक्षक शब्द का प्रयोग करता है, वह इसलिये कि गङ्गा की शीतलता और पवित्रता तट में भी प्रतीत हो। वह शीतलता और पवित्रता की प्रतीति लक्षणामूला व्यञ्जना से ही होती है, क्योंकि अभिधा 'प्रवाह' को और लक्षणा 'तट' को बताकर अपना २ काम कर चुकीं। तट में शीतलता और पवित्रता बताना उनके वश की बात नहीं। वह तो लक्षणामूला व्यञ्जना से ही प्रतीत होती है। इस प्रकार जहां २ प्रयोजनवती लक्षणा होती है, वहां सर्वत्र प्रयोजन की प्रतीति लक्षणामूला व्यञ्जना से ही होती है।

तृतीय उल्लास

द्वितीय उल्लास में यह बात बताई गई है कि वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य भेद से अर्थ तीन प्रकार का होता है। व्यङ्ग्यार्थ के भी तीन भेद हैं—रस, वस्तु और अलङ्कार। इनमें 'वस्तु' और 'अलङ्कार' वाच्य भी होते हैं और व्यङ्ग्य भी। परन्तु 'रस' सर्वदा व्यङ्ग्य ही रहता है, कभी वाच्य नहीं होता। इसको आलङ्कारिक विद्वान् काव्य-पुरुष की 'आत्मा' कहते हैं।

रस

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—इन तीनों के संयोग से होने वाली स्थायी भावों की अभिव्यक्ति का नाम 'रस' है।

स्थायीभाव नौ हैं—रति, शोक, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इसलिये रस भी नौ ही हैं—शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।

रति

स्त्री पुरुष की परस्पर प्रेम रूप चित्तवृत्ति का नाम 'रति' है। यह शृङ्गार का स्थायी भाव है।

शोक

पुत्र आदि इष्ट वस्तु के विनाश के कारण चित्त में होने वाली 'व्याकुलता' को शोक कहते हैं। यह करुणा का स्थायीभाव है।

हास

विकृत आकार, वाणी, वेष और चेष्टाओं को देखकर जिसकी उत्पत्ति हो, उस चित्तवृत्ति का नाम 'हास' है। यह हास्य रस का स्थायीभाव है।

क्रोध

गुरु-वध, बन्धु-वध आदि महान् अपराधों के कारण जिसकी उत्पत्ति हो, ऐसी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति का नाम 'क्रोध' है। यह रौद्र रस का स्थायीभाव है।

उत्साह

शत्रु के पराक्रम तथा किसी के दान आदि उत्कृष्ट कर्मों के स्मरण से जिसकी उत्पत्ति हो, उसे 'उत्साह' कहते हैं। यह वीर रस का स्थायीभाव है।

भय

किसी भी भयानक वस्तु के देखने से जिसकी उत्पत्ति होती

है और जिसके होने से किसी महान् अनर्थ की आशङ्का हो, ऐसी चित्त की वृत्ति को 'भय' कहते हैं। यह भयानक रस का स्थायी है।

जुगुप्सा

किसी घृणित वस्तु को देखकर चित्त में जो एक प्रकार की 'घृणा' पैदा हो जाती है, उसको 'जुगुप्सा' कहते हैं। यह वीभत्स रस का स्थायी है।

विस्मय

किसी अनोखी वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाली 'आश्चर्य' नामक चित्तवृत्ति का नाम 'विस्मय' है। यह अद्भुत रस का स्थायी है।

निर्वेद

वेदान्तादि शास्त्र द्वारा निरन्तर नित्य अनित्य वस्तुओं का विचार करने से जो चित्त में विषयों की ओर से विराग पैदा हो जाता है, उस विषय-विराम को 'निर्वेद' कहते हैं। यह शान्त रस का स्थायी है।

ये ऊपर कहे गए रत्यादि भाव बहुत समय तक चित्त में अवस्थित रहते है और विभावादि के सम्बन्ध से 'रस' पदवी को प्राप्त करते हैं। इस कारण इनको अलङ्कार शास्त्र में 'स्थायी भाव' कहा गया है।

विभाव

रत्यादि स्थायी भावों के कारणों को 'विभाव' कहते हैं। ये 'विभाव' दो प्रकार के होते हैं। एक 'आलम्बन विभाव' और दूसरे 'उद्दीपन विभाव'। जिसके सहारे रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हों, अथवा जो रति आदि भावों की उत्पत्ति का कारण हो, उसे 'आलम्बन विभाव' कहते हैं। जैसे, कण्व के आश्रम में दुष्यन्त और शकुन्तला के हृदय में एक दूसरे को देखने से रति (प्रेम) अङ्कुरित (उत्पन्न) हुई, इसलिए शकुन्तला दुष्यन्त की रति का आलम्बन और दुष्यन्त शकुन्तला की रति का आलम्बन हुआ। इसी प्रकार शोकादि स्थायी भावों में समझना चाहिये। आलम्बन विभाव से उत्पन्न रति आदि भावों को उद्दीप्त करने (बढ़ाने) वाले विभाव 'उद्दीपन विभाव' कहलाते हैं। जैसे, सुगन्धित पुष्पों की माला, चन्दन, एकान्त-स्थान, चन्द्रमा की चाँदनी आदि उत्पन्न हुई रति को उद्दीप्त करते हैं, इसलिये रति के 'उद्दीपन विभाव' माने जाते हैं।

अनुभाव

रति आदि के अङ्कुरित और उद्दीप्त होने के अनन्तर जो भाव उत्पन्न हों, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। ये रति आदि के कार्य माने जाते हैं, क्योंकि इनसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। जैसे, रोमाञ्च पसीना आदि रति के अनुभाव हैं। इनका नाम अनुभाव

इसलिये है कि ये स्थायी भावों के पीछे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर उन (स्थायी भावों) का ज्ञान कराते हैं।

व्यभिचारि भाव

स्थायी भावों के साथ रहने वाली निर्वेद, ग्लानि, मद, मोह आदि चित्तवृत्तियों को व्यभिचारि भाव कहते हैं।

अस्थिर होने के कारण इन्हें व्यभिचारि भाव कहा जाता है। ये संख्या में ३३ हैं—

निर्वेद, ग्लानि, मद, मोह, विषाद, शङ्का,
आलस्य, धैर्य, मति, उत्सुकता, असूया।
उन्माद, स्वप्न, श्रम, त्रास, विबोध, निद्रा,
आवेग, दैन्य, अवहित्थ, वितर्क, व्रीडा।
चापल्य, गर्व, जडता, स्मृति, व्याधि, हर्ष,
चिन्ता तथा मृति[1], अपस्मृति[2] औ अमर्ष।
हैं उग्रता सहित ये सब तीस तीन (३३),
संचारिभाव कहते इनको प्रवीन।

(स्वामी नरोत्तमदास एम. ए. किंचित् परिवर्तित)

इनका दूसरा नाम संचारी भाव भी है। अब क्रमशः रसों के उदाहरण देते हैं।

---

१ मृत्यु। २ अपस्मार।

शृङ्गार

आलम्बन विभाव—नायक और नायिका।

उद्दीपन विभाव—चन्द्रमा, चाँदनी, चन्दन, सुखद पवन, उपवन, एकान्त स्थान आदि।

अनुभाव—परस्परावलोकन, एक दूसरे के गुणों का श्रवण और कीर्तन, कम्प, रोमाञ्च आदि।

व्यभिचारि भाव—स्मृति, चिन्ता, लज्जा, उत्कण्ठा आदि।

शृङ्गार रस के दो भेद हैं—एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ। नायक नायिका की संयोगावस्था के प्रेम (रति) को संयोग शृंगार और वियोगावस्था के प्रेम को विप्रलम्भ कहते हैं।

सोई सविधै, सकी न करि, सफल मनोरथ मञ्जु।
निरखति कछु मींचे नयन, प्यारी पिय मुख कञ्जु॥

(हिन्दी रसगङ्गाधर)

नायिका अपने प्रियतम के समीप सोई हुई है, परन्तु वह अपनी अभिलाषा पूर्ण करने में असमर्थ है। अतः नेत्रों को कुछ मुकुलित (बन्द) करके अपने प्रिय के मुखारविन्द की ओर निहार रही है। यह संयोग शृंगार का उदाहरण है। यहां नायक आलम्बन विभाव है। एकान्त स्थान उद्दीपन विभाव है। नेत्रों को कुछ मुकुलित करके देखना अनुभाव है।

---

१ समीप।

लज्जा और उत्कण्ठा व्यभिचारी भाव हैं। ये सब मिलकर नायिका में रहने वाले नायकविषयक रति स्थायी भाव को अभिव्यक्त करते हैं।

लखि ससंक सूनौ सदन, मंद हास गति मद।
चन्द मुखी कौ अङ्क भर, लूटौ सुख व्रजचन्द॥

यह भी संयोग या संभोग शृङ्गार का उदाहरण है। राधिका आलम्बन है। चन्द्रमा, सूना घर, नायिका का मन्द-हास, मन्दगति उद्दीपन हैं। आलिङ्गन अनुभाव है। हर्ष आदि संचारी हैं। पहले उदाहरण में नायिका में रति है, यहां व्रज-चंद नायक मे है।

"देखन मिसु मृग विहंग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥"

यह विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण है। भगवान् रामचन्द्र जनक महाराज के उपवन की शोभा देख रहे हैं। सीता जी भी

---

१ श्रीयुत बाबूराम वित्थरिया जी ने इसे सयोग शृङ्गार का उदाहरण लिखा है। हमारी समझ में यह पूर्वानुराग विप्रलम्भ का ही उदाहरण हो सकता है, सयोग का नहीं। क्योंकि यह चौपाई उस समय की है, जब सीता जी का रामचन्द्र जी से विवाह नहीं हुआ और सीता जी उन्हें वर रूप से प्राप्त करने की अभिलाषा रखती हैं।

अपनी सखियों के साथ गौरी-पूजन के लिये वहां पहुँची हुई हैं। उस समय का यह दोहा है। सीता जी वन के मृग, पक्षी, तरु आदि को देखने के बहाने से बार बार लौटती हैं और बार बार भगवान् रामचन्द्र जी की छवि को देखकर उनके हृदय में प्रेम का प्रवाह उमड़ने लगता है।

यहां भगवान् राम आलम्बन हैं। उनका अलौकिक सौन्दर्य, उपवन, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन हैं। बार २ देखना आदि अनुभाव है। उत्कण्ठा व्यभिचारि भाव है।

"ललन चलन सुनि पलन में, आइ गयो बहु नीर।
अधखण्डित बीरी रही, पीरी परी सरीर॥"

(विक्रम सतसई)

यह भी विप्रलम्भ का उदाहरण है। नायक के गमन का वृत्तान्त सुनकर नायिका की आँखों में पानी भर आया, मुँह में डाली हुई पान की बीड़ी भी दाँतों तले ही अधखण्डित अवस्था में ज्यों की त्यों रक्खी रही, सारा शरीर पीला पड़ गया।

यहां परदेश जाने वाला नायक आलम्बन है। परदेश यात्रा का समाचार सुनना उद्दीपन है। अश्रुपातादि अनुभाव हैं। जड़ता, विषाद आदि व्यभिचारि भाव हैं। रति स्थायी भाव है। पहला उदाहरण अभिलाष (पूर्वानुराग) हेतुक विप्रलम्भ का है, दूसरा प्रवास हेतुक का है। इस प्रकार विप्र-

लम्भ के अनेक भेद होते हैं। यहां संक्षेप से दो ही उदाहरण दिये गए हैं।

करुण[1]

आलम्बन विभाव—मृत्र पुत्र आदि।

उद्दीपन विभाव—रोते हुए बन्धु बान्धवों का दर्शन आदि।

अनुभाव—रोदन, दैवनिन्दा, प्रलाप, विवर्णता आदि।

व्यभिचारिभाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता, जडता, विषाद आदि।

सब बन्धुन को सोच तजि, तजि गुरुकुल को नेह।
हा सुशील सुत! किमि कियो, अनंत[2] लोक तैं गेह॥

(हिन्दी रसगङ्गाधर)

हाय! मेरे सुशील पुत्र! तुमने अपने सब बन्धुओं की चिन्ता को छोड़कर गुरुकुल के प्रेम को हटाकर क्यों इस लोक से अन्यत्र परलोक में अपना स्थान बनाया। यहां मृत पुत्र आलम्बन विभाव है, बान्धवों का दर्शन आदि उद्दी-

---

१ आलम्बन प्रिय को मरण, उद्दीपन दाहादि।
थायी जाको शोक जहँ, है करुणा रस यादि॥
रोदति महिपति नादि जहँ, वरणत कवि अनुभाव।
निर्वेदादिक जानिये, तहँ सचारी भाव॥ (जगद्विनोद)

२ अन्यत्र, दूसरी जगह।

पन विभाव है, रोदन अनुभाव है, 'हा' पद के द्वारा सूचित दैन्य संचारिभाव है और शोक स्थायी भाव है।

हास्य

आलम्बन—जिसकी विकृत आकृति, वाणी, वेश, भूषा आदि
को देखकर लोग हँस पड़ें।

उद्दीपन—उसकी चेष्टा आदि।

अनुभाव—आँखों का मुकुलित होना और मुख का विकसित
होना।

संचारिभाव—आवेग, चपलता, श्रम, हर्ष, आलस्य आदि।

उरद की दार दरि वीवी ने बनाये बरे,
दही में सराये सो कठौता खूब भरि गो।
भये पेट भेंट, मैंने दाबि दाबि भरे भूरि,
गरे लौं गरीब पेट मसक सो भरि गो।

---

१ थाई जाको हास है, वहै हास्य रस जानि।
तहँ कुरूप कूदब कहब, कछु विभाव ते मानि॥
भेद मध्य अरु ऊँच स्वर, हँसबोई अनुभाव।
हरप चपलता और हू, तहँ सचारी भाव॥

(जगद्विनोद)

हाय अधरातक महान अचरजु भयो,

उमडि घुमड़ि पौन 'भड' दै निकरि गो ।

काहू ने रपट करी आयो धाय कोतवाल,

पकरि कै मोय कह्यो बम कितै फटि गो ।

(किशोरीदास वाजपेयी)

यहां वक्ता आलम्बन है । उसकी चेष्टा और कहने का ढंग उद्दीपन विभाव है । मुखविकास आदि अनुभाव हैं । आवेग, श्रम, आलस्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास स्थायी भाव है ।

रौद्र[1]

आलम्बन—अपराधी पुरुष शत्रु आदि ।

उद्दीपन—उसका अपराध आदि ।

अनुभाव—आंखों की लाली, होंठ चबाना, दांत पीसना, त्यौरी चढ़ना, कठोर भाषण, शस्त्र ग्रहण आदि ।

उद्दीपन—अमर्ष, गर्व, आवेग, उग्रता, चपलता आदि ।

---

१ थाई जाको क्रोध अति, वहै रौद्र रस नाम ।

आलम्बन रिपु, रिपु उमंड, उद्दीपन तिहि ठाम ॥

भृकुटि भंग अति अरुणाई, अधर दसन अनुभाव ।

गरव चपलता और हू, तहँ सचारी भाव ॥

(जगद्विनोद)

उदाहरण—

अधर चब्ब गहि गब्ब अति, गहि रावण को काल ।
दृग कराल मुख लाल करि, दौरेउ दशरथ लाल ॥
(पद्माकर)

यहां अपराधी रावण भगवान् राम के क्रोध का कारण होने से आलम्बन विभाव है । ओंठ चबाना, आँखों की करालता, मुख की लाली आदि अनुभाव हैं । गर्व आवेग आदि संचारिभाव हैं । क्रोध स्थायीभाव है ।

वीर[1]

आलम्बन—शत्रु आदि, जिससे उत्साह की उत्पत्ति हो ।
उद्दीपन—शत्रु की चेष्टा, सेना का सिंहनाद, लड़ाई का बाजा आदि ।
अनुभाव—अंगों का फड़कना, युद्ध के सहायक (धनुष, बाण आदि) का ढूँढना, शत्रु को तुच्छ समझना ।

---

1 जा रस का उत्साह शुभ, है इक थाई भाय ।
सुरस वीर है चारि विधि, कहत सबै कविराय ॥
युद्धवीर को जानिये, आलम्बन रिपुजोर ।
उद्दीपन ताको तबहिं, पुनि सेना को सोर ॥
अंग फरकर दृग अरुणई, इत्यादिक अनुभाव ।
गरब असूया उग्रता, तहँ संचारी भाव ॥ (जगद्विनोद)

संचारी—गर्व, असूया, उग्रता, धैर्य, रोमाञ्च आदि।

यह वीर रस चार प्रकार का होता है--युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर।

युद्धवीर

जहां युद्धसम्बन्धी उत्साह व्यञ्जित हो, वहां युद्धवीर रस होता है। उदाहरण जैसे--

धनुष चढ़ावत भे तबहिं, लखि रिपुकृत अपमान।
हुलसि गात रघुनाथ को, बखतर में न समान॥

(पद्माकर)

यहां शत्रु आलम्बन है। उसका किया हुआ अपमान उद्दीपन है। धनुष चढ़ाना, शरीर का हुलसना आदि अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। युद्धविषयक उत्साह स्थायीभाव है।

मारतण्ड परचण्ड महँ, फरकत जुग भुजदण्ड।
रघुनन्दन दसकन्ध लखि, टङ्कारयो कोदण्ड॥

(विक्रम सतसई)

यह भी युद्धवीर का उदाहरण है। रावण आलम्बन है। उसकी चेष्टा आदि उद्दीपन। भुज का फड़कना, धनुष की टङ्कार अनुभाव। हर्ष और गर्व संचारी हैं।

दयावीर[1]

जहां दयाविषयक उत्साह व्यञ्जित हो, वहां 'दयावीर' होता है।

आलम्बन—दीन दुखिया आदि।

उद्दीपन—रोना कराहना आदि।

अनुभाव—दुःख दूर करने की चेष्टा करना, दु:खी के प्रति कोमल वचन बोलना आदि।

सचारी—धैर्य, चञ्चलता आदि।

उदाहरण जैसे—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला, फरकि उठे दोउ भुजा विसाला।

सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं, बालिहिं एक हि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, भयउ न उबरहिं प्रान॥

(रामचरित मानस)

जब भगवान् राम के आगे सुग्रीव ने अपनी करुण कहानी सुनाई तो दयासागर भगवान् का हृदय पसीज गया और

---

1 दयावीर में दीन दुख, वरणत आदि विभाव।
दूरि करब दुख, मृदु कहब, इत्यादिक अनुभाव॥
सुधृति चपलता और हू, तहँ सचारी भाव।
दयावीर वरणत सबै, याही विधि कविराज॥

(जगद्विनोद)

सुग्रीव के दुःख को दूर करने के लिये उनके हृदय में उत्साह की बिजली कौंधने लगी, दोनों बाहु फड़कने लगे और उन्होंने सुग्रीव से वालि को मारने की प्रतिज्ञा की। यहां दुःखी सुग्रीव आलम्बन है। उसका विलाप करना आदि उद्दीपन है। दुःख दूर करने की चेष्टा और वालि का वध करने की प्रतिज्ञा अनुभाव है। चञ्चलता और गर्व संचारिभाव है। दयाविषयक उत्साह स्थायीभाव है।

दानवीर[1]

जहाँ दानसम्बन्धी उत्साह व्यञ्जित हो, उसे दानवीर कहते हैं।

आलम्बन—दान के समय (संक्रान्ति आदि) का ज्ञान, याचक, तीर्थयात्रा आदि।

उद्दीपन—दान महिमा का श्रवण आदि।

अनुभाव—धन को तृण के समान समझना चाहिये।

संचारी—लज्जा, हर्ष आदि।

---

१ दान समय को ज्ञान पुनि, याचक तीरथ गौन।
दानवीर के कहत हैं, ये विभाव मति भौन॥
तृण समान लेखत सुधन, इत्यादिक अनुभाव।
व्रीडा हरषादिक गनौ, तहँ संचारी भाव॥
(जगद्विनोद)

उदाहरण जैसे—

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अब लौं रघुकुल राज ।
ताहि देत हरिचन्द नृप, विश्वामित्रहिं आज ॥

(सत्य हरि०)

यहां याचक विश्वामित्र ऋषि आलम्बन है। दान की महिमा उद्दीपन है। सम्पत्ति को तुच्छ समझना ही यहां अनुभाव है, हर्ष संचारि भाव है। दानसम्बन्धी उत्साह स्थायीभाव है।

धर्मवीर[1]

जहां धर्मसम्बन्धी उत्साह व्यञ्जित हो, वहां 'धर्मवीर' होता है।

आलम्बन—वेद, स्मृति आदि का परिशीलन करना आलम्बन विभाव है।

उद्दीपन—वेद पुराण आदि का सुनना।

अनुभाव—वेदशास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान आदि।

संचारि—धृति, क्षमा आदि संचारि भाव हैं।

---

१ धर्मवीर के कहत हैं, ये विभाव उर आन।
वेद, सुमृति शीलन सदा, पुनि पुनि सुनव पुरान ॥
वेद विहित क्रम वचन वपु, और हू हैं अनुभाव।
धृति आदिक बरणत सुकवि, तहँ सचारि भाव ॥

(जगद्विनोद)

उदाहरण जैसे—

धारि जटा भलकत भरत, गन्यो न दुख तजि राज।
भे पूजत प्रभु पादुकन, परम धरम के काज॥

यहां वेदशास्त्र आदि का परिशीलन आलम्बन विभाव है, क्योंकि वेद शास्त्र के परिशीलन से ही धर्म करने का उत्साह होता है। पुराण आदि के द्वारा धर्म महिमा का सुनना उद्दीपन है। राजपाट छोड़कर दुःखों की परवाह न करके जटा धारण करना और भगवान् राम की पादुकाओं का पूजन करना अनुभाव है। धैर्य आदि संचारी भाव हैं।

भय[1]

आलम्बन—जिससे भय उत्पन्न हो (सिंह, व्याघ्र आदि)।
उद्दीपन—उसकी चेष्टाएं।
अनुभाव—चेहरे पर हवाइयां उड़ना, गद्गद होकर बोलना, मूर्च्छा, पसीना आना, रोंगटे खड़े होना, काँपना आदि।

---

१ जाको थायी भाव भय, वहै भयानक जान।
लखन भयङ्कर गजव कछु, ते विभाव उर आन॥
कम्पादिक अनुभाव तहँ, संचारी मोहादि॥

(जगद्विनोद)

व्यभिचारी—जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार आदि।

उदाहरण—

नभ ते झपटत बाज लखि, भूल्यो सकल प्रपञ्च।

कम्पित तन व्याकुल नयन, लावक हिल्यो न रञ्च॥

यहां वाज आलम्बन है। उसका झपटना उद्दीपन है। शरीर का कांपना, नेत्रों की व्याकुलता आदि अनुभाव हैं। दैन्य आदि व्यभिचारि भाव हैं। भय स्थायी भाव है।

वीभत्स[1]

आलम्बन—दुर्गन्ध युक्त मांस, रुधिर, चर्वी आदि।

उद्दीपन—उनमें कीड़े पड़ जाना आदि।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आंख मींचना आदि।

संचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि आदि।

उदाहरण—

फाडि नखन शव-आंतड़िन, रुधिर मवाद निकारि।

लेपति अपने मुखन पै, हरसि प्रेत गन नारि॥

(हिन्दी रसगङ्गाधर)

---

१ थाई जासु गलानि है, सो बीभत्स गनाव।
पीव मेद मजा रुधिर, दुर्गन्धादि विभाव॥
नाक मूँदिबो कम्प तन, रोम उठव अनुभाव।
मोह असूया मूरछा दिक संचारी भाव॥ (जगद्विनोद)

यह श्मशान या रणभूमि का वर्णन है। यहाँ मुरदे आलम्बन हैं। अँतड़ियों को चीरना आदि उद्दीपन है। आँख मीचना, नाक सिकोड़ना आदि अनुभाव हैं। आवेग आदि संचारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है।

कहीं धक धक चिताएँ जल रहीं थीं,
धुआँ मुँह से उगल बेकल रहीं थीं।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था,
निठुरता काल की दिखला रहा था॥

इत्यादि उदाहरण भी वीभत्स रस के ही हैं।

अद्भुत

आलम्बन--अद्भुत वस्तु।
उद्दीपन--उसके गुणों का वर्णन आदि।

---

१ यद्यपि पद्य में अनुभाव नहीं बताए गए हैं तो भी यहां इनका आक्षेप कर लिया जाता है।

२ जाको थाई आचरज, सो अद्भुत रस गाव।
असभवित जेते चरित, तिनको लखत विभाव॥
वचन विचल बोलनि कँपनि, रोम उठनि अनुभाव।
वितरक शङ्का मोह ये, तहँ संचारी भाव॥

(जगद्विनोद

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, नेत्र विकास आदि ।

संचारी—वितर्क, त्रास, आवेग, हर्ष आदि ।

उदाहरण—

अखिल भुवन चर अचर सब, हरि मुख में लखि मातु ।
चकित भई गद्गद वचन, विकसित दृग पुलकातु ॥
(काव्य कल्पद्रुम)

यशोदा ने भगवान् कृष्ण के मुख में जो सारे भुवनों का दर्शन किया था, उसका यह वर्णन है। यहाँ श्रीकृष्ण का मुख आलम्बन है। मुख में भुवनों का देखना उद्दीपन है। नेत्र विकास, गद्‌गद् स्वर, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। त्रास आदि व्यभिचारि भाव हैं। विस्मय स्थायी भाव है।

शान्त

आलम्बन—अनित्यता, दुःखरूपता आदि कारणों से संसार की असारता का ज्ञान या परमात्मा का स्वरूप।

---

१ सुरस शान्त निर्वेद है, जाको थाई भाव।
सत् सगति गुरु तपोवन, मृतक समान विभाव ॥
प्रथम रुमाँचादिक तहाँ, भाषत कवि अनुभाव।
धृति, मति, हरषादिक कहे, शुभ सचारी भाव ॥
(जगद्विनोद)

उद्दीपन—वेदान्त श्रवण, ऋषि मुनियों के पवित्र आश्रम, बदरिकाश्रम आदि पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन तथा महात्माओं का सङ्ग आदि।

अनुभाव—विषयों से अरुचि और शत्रु मित्र में उदासीनता रोमाञ्च आदि।

संचारी—हर्ष, स्मृति, मति, उन्माद आदि।

उदाहरण—

मलय अनिल अरु गुरु गरल, तिय-कुन्तल[1], अहि-देह।
सुपंच[2] रु विधि को भेद तजि, मम थिति[3] भई अछेह[4] ॥

(हिं० रसगङ्गाधर)

मलयाचल के वायु और भयङ्कर विष में, स्त्रियों के केश और साँप के शरीर में, चाण्डाल और ब्रह्मा में मेरी स्थिति भेदभाव रहित है।

इस पद्य में अनित्यता आदि रूप से ज्ञात संसार आलम्बन है। सब पदार्थों में समान दृष्टि अनुभाव है। मति आदि संचारी भाव हैं। निर्वेद स्थायी भाव है।

---

१ केश। २ सुपच-श्वपच-चाण्डाल। ३ थिति-स्थिति।
४ अखण्डनीय।

वस्तु व्यङ्ग्य

गुनहु लषन कर हम पर रोपू, कतहु सुधाइहुते वड़ दोपू।
टेढ़ जानि शङ्का सब काहू, वक्र चन्द्रमहिं ग्रसै न राहू॥
(रामचरित मानस)

भगवान् रामचन्द्र परशुराम जी से कहते हैं कि महाराज! दोष तो लक्ष्मण का है, जिसने आपको जली कटी सुनाई है, क्रोध आप मुझ पर करते हैं। सच है, कहीं २ सीधेपन से भी बड़े दोष उत्पन्न हो जाते हैं। टेढ़े से सब कोई डरता है। तभी न राहु भी टेढ़े चन्द्रमा को नहीं ग्रसता। यह इस चौपाई का सरल भावार्थ है। इससे—'यदि मैं भी आपको खरी खरी सुनाता तो आप इस तरह बढ़ बढ़ कर बातें न करते और आपका सारा अभिमान ढीला पड़ जाता।' यह वस्तु व्यङ्ग्य होती है।

प्रथम उल्लास में दिया गया उत्तम काव्य का उदाहरण भी वस्तु व्यङ्ग्य का उत्तम उदाहरण है।

अलङ्कार व्यङ्ग्य

रवि प्रताप हू घटत है, जब वह दच्छिन जाय।
रघुप्रताप नहिं सहि गयो, नृपन तिहीं दिशि माँय॥

(रघुवंश अनुवाद काव्य कल्पद्रुम)

यह महाराज रघु के दिग्विजय प्रसंग का पद्य है । दक्षिण दिशा में (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का भी प्रताप (गर्मी) कम हो जाता हैं, परन्तु उस दिशा में महाराज रघु के प्रताप को राजा लोग नहीं सहन कर सकते । यहां सूर्य के प्रताप से रघु के प्रताप का व्यतिरेक (उत्कर्ष) व्यङ्गय होता है । उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष को ही व्यतिरेकालङ्कार कहते हैं ।

चतुर्थ उल्लास

शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष के शरीर हैं, यह बात पहले लिखी जा चुकी है। जिनसे काव्य शरीर की शोभा बढ़े, उन्हें अलंकार कहते हैं। अलंकार शब्द का अर्थ ही यह है कि 'शोभा को बढ़ाने वाला'। लोक व्यवहार में भी शरीर की शोभा बढ़ाने वाले ककण, कुण्डल, हार आदि को 'अलंकार' ही कहते हैं। इसलिये सक्षेप में यह सिद्ध हुआ कि—

शब्द और अर्थ की शोभा बढाने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं।

अलंकार के तीन भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। यह बात भी प्रथम उल्लास में बताई जा चुकी है।

शब्दालङ्कार

जिससे केवल शब्द की शोभा बढ़े अथवा जिससे केवल शब्द में ही चमत्कार उत्पन्न हो, उसे शब्दालङ्कार कहते हैं।

इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शब्दालङ्कार में शब्द

बदले नहीं जा सकते, उन्हीं शब्दों के रहने पर वहां चमत्कार उत्पन्न होता है। बदल देने पर चमत्कार नहीं रहता। यह शब्दालंकार वक्रोक्ति, अनुप्रास आदि भेद से कई प्रकार का होता है, जिनका निरूपण क्रमशः आगे किया जायगा।

वक्रोक्ति[1]

जहां वक्ता ने किसी अन्य अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया हो परन्तु सुनने वाला उसका दूसरा ही अर्थ कल्पना कर ले, वहां वक्रोक्ति अलङ्कार होता है।

वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति।

श्लेष वक्रोक्ति

जहां श्लेष (अनेकार्थक शब्द का प्रयोग) के कारण दूसरा अर्थ कल्पना किया जाय, वहां श्लेष वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण जैसे—

को तुम ? माधव हौ प्रिये ! नहि वसन्त सों काज।
भामिनि ! हरि हौ तौ बसौ, सुरपुर मधि सुरराज॥

यह राधिका और भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति प्रत्युक्ति है। यहा 'माधव' और 'हरि' शब्द से कृष्ण महाराज का अपना

---

१ होय श्लेष सो काकु सों, कल्पित औरै अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति है, सिगरे सुकवि समर्थ॥ (अ० म०)

नाम वताने में तात्पर्य है, परन्तु राधिका जी ने माधव का 'वसन्त' और हरि का सुरराज 'इन्द्र' अर्थ समझ कर उत्तर दिया।

आम वोलचाल में भी सहृदय लोग वक्रोक्ति का खूब प्रयोग करते हैं। उदाहरण जैसे—'मित्रवर ! काम (कार्य) वहुत था, इसलिये तुम से नहीं मिल सका।' इसका उत्तर वक्रोक्ति से दूसरा मित्र यों देता है—'भई, वहुत कामी (विपयी) वनना ठीक नहीं, इससे जग में निन्दा होती है' इत्यादि।

दूसरा उदाहरण जैसे—

गौरगात्र मम सुहृदवर, कहहु कुशलता वृत्त।
मैं न गऊ, नहिं काम मैं, दाभ न जानू मित्त॥

कोई किसी अपने मित्र से पूछता है—हे गोरे गातवाले मेरे मित्र ! अपनी कुशलता का समाचार सुनाओ। उसके मित्र ने वक्रोक्ति से उत्तर दिया कि–भाई ! मैं न तो गऊ हूं, न कामदेव ही हूं और न मैं कुशा के विषय में कुछ जानता हूं।

यहा पूर्वार्ध में 'गौरगात्र' पद से पूछने वाले का अभिप्राय 'गोरे गात वाला' इस अर्थ से है, परन्तु उत्तर देने वाले ने 'गौ (गऊ) अगात्र (गात्र रहित कामदेव)' इस प्रकार सन्धि तोड़ कर दूसरे ही अर्थ की कल्पना कर ली। इसी प्रकार 'शकुन्तला' पद से वक्ता का अभिप्राय कल्याण–खैरियत से है परन्तु सुनने वाले ने 'कुश की लता' अर्थात् दाभ (एक प्रकार की घास) समझ कर उत्तर दिया।

काकुवक्रोक्ति

काकु शब्द का अर्थ है ध्वनि-विकार—बोलने का एक प्रकार का ढङ्ग या लहज़ा। इस लहज़े में यह कमाल है कि यह शब्दार्थ को एक दम बदल देता है। बदल क्या देता है, बिलकुल विपरीत कर देता है। जैसे—'मैं वहां नहीं गया' यह वाक्य है। इसका साधारण अर्थ है—मैं वहां नहीं गया। परन्तु इसी वाक्य को यदि प्रश्न पूछने के ढङ्ग से उच्चारण किया जाय—मैं वहां नहीं गया? तो इसका अर्थ होगा क्या मैं वहां नहीं गया अर्थात् अवश्य गया। तात्पर्य यह हुआ कि—

जहां काकु के द्वारा शब्द का अभिप्राय बदल दिया जाय, वहां 'काकुवक्रोक्ति' होती है।

उदाहरण जैसे—

अलि कुल कोकिल कलित यह, ललित वसन्त बहार।
कहु सखि नहिं अइ हैं कहा? प्यारे अबहुँ अगार॥

('भानु' कवि)

यहां 'नहिं अइ हैं कहा' का काकु द्वारा 'नहीं नहीं अवश्य आवेंगे' यह अर्थ कर दिया गया है।

अबुध कही किहिं आइ, हठ तें होति सती सबहि।
सुजन कही मुसकाइ, हठ तें होति सती? अहो॥

(शिवकुमार—कुमार)

यह भी काकुवक्रोक्ति का उदाहरण है। किसी वृद्ध ने कहा 'हठ तें होति सती सब हि'--अर्थात् सतियां हठ से (जबरदस्ती) होती हैं। इसका उत्तर किसी सज्जन ने 'हठ तें होति सती?' इस प्रकार काकु से दिया अर्थात् सती हठ से नहीं होती।

अनुप्रास[1]

स्वरों में भेद होने पर भी व्यञ्जनों की समानता को अनुप्रास कहते हैं।

अनुप्रास शब्द का यौगिक अर्थ है-चमत्कार के अनुकूल वर्णों और शब्दों का उत्कृष्ट सन्निवेश या वार वार उच्चारण। यह अनुप्रास दो प्रकार का होता है-वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के चार भेद हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास। इनके लक्षण और उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

छेकानुप्रास[2]

---

१ व्यञ्जन सम वर स्वर असम, अनुप्रास लकार।

(अ० मंजूषा)

२ आवृति वरण अनेक की, दोय दोय जब होय।
है छेकानुप्रास सो, समता बिनहू सोय॥ (भाषा भूषण)
वर्ण अनेक कि एक की, आवृत्ति एकै बार।
सो छेकानुप्रास है, आदि अन्त निरधार॥ (अ० मंजूषा)

एक[1] या अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक शब्द का अर्थ है विदग्ध या चतुर। यह चतुर पुरुषों को अत्यन्त प्रिय है, इसलिये इसे छेकानुप्रास कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग,
और मैं चञ्चलगति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त कामिनी कविता॥

'तुम' और 'तुङ्ग' में 'त' की, तथा 'तुङ्ग' और 'शृङ्ग' में 'ङ्ग' की, सुरसरिता में 'स' 'र' की एक बार आवृत्ति हुई है।

मन्द मन्द चलि अलिन को, करत गन्ध मद अन्ध।
कावेरी-वारी-पवन, पावन परम सुछन्द॥

(का० क० द्रु०)

यहां भी 'चलि अलिन' में 'ल' की, 'गन्ध अन्ध' में 'न' और 'ध' की, 'कावेरी वारी' में 'व' 'र' की, इसी प्रकार 'पावन पवन' में 'प' 'व' 'न' की एक बार आवृत्ति हुई है।

---

१ 'काव्यप्रकाश' आदि संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में केवल अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति को ही छेकानुप्रास कहा है। एक वर्ण की एक बार आवृत्ति में, उनकी दृष्टि में कोई चमत्कार नहीं है।

वृत्त्यनुप्रास[1]

वृत्तियों के अनुकूल एक या अनेक वर्णों (व्यञ्जनों) की अनेक बार आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।

वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण देने से पहले हम पाठकों को वृत्तियों का स्वरूप और भेद बता देना चाहते हैं, जिससे कि वृत्त्यनुप्रास का लक्षण अच्छी तरह समझ मे आ सके। वृत्तिया तीन हैं–उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन्हीं वृत्तियों को क्रमश· वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति भी कहते हैं।

उपनागरिका वृत्ति या वैदर्भी रीति

जिस रचना में माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण हों, उसे उपनागरिका वृत्ति या वैदर्भी रीति कहते हैं।

ट, ठ, ड, ढ—इन वर्णों को छोड़कर ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, से या अनुस्वार से युक्त कवर्गादि पांचों वर्गों के अक्षर, ह्रस्व स्वर के साथ 'र' और 'ण' माधुर्य गुण के व्यञ्जक होते हैं।

---

1 वर्ण अनेक कि एक की, जहँ सरि कैयो वार।
सो है वृत्त्यनुप्रास जो, परै वृत्ति अनुसार॥

(अ० म०)

उदाहरण जैसे—

खञ्जन मन रञ्जन करन, गञ्जन मृग चख मान।
आवत गुञ्जन को चुगत, चञ्चलता को खान॥
(जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

यहां 'ञ्' के साथ जकार का मनोहर वृत्त्यनुप्रास है।

कच चिकने मेचक चटक, चारु चिलक चितचोर।
छहरि रहे छवि छाय छुटि, छुए छुवा के छोर॥
(रामसतसई)

यहां क, च, छ—इन अनेक व्यञ्जनों की अनेक वार आवृत्ति हुई है। इसलिये यह भी वृत्त्यनुप्रास है।

परुषा वृत्ति या गौड़ी रीति

जिस रचना में ओज गुण के व्यञ्जक वर्ण हों, वह 'परुषा' वृत्ति या 'गौडी' रीति है।

वर्ग के प्रथम अक्षर का द्वितीय अक्षर के साथ[1], तृतीय का चतुर्थ के साथ[2], 'र' का किसी भी दूसरे वर्ण के साथ[3] संयोग और समान वर्ण का संयोग[4], टवर्ग और श, ष, ओज गुण के व्यञ्जक हैं। परुषा वृत्ति में लम्बे लम्बे समास होते हैं।

---

१ अक्खर, पत्थर, तुच्छ इत्यादि। २ बग्घी, झज्झर, वृद्ध इत्यादि। ३ धर्म, कर्म नम्र, आम्र इत्यादि। ४ चक्कर, पच्चर, कुत्ता, चकत्ता, अट्ट, अड्डा इत्यादि।

उदाहरण—

मुण्ड कटत कहुँ रुण्ड नटत कहुँ सुण्ड पटत घन,
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि बूत भिरत सुर दूत विरत तहँ,
चण्डि नचत मन मण्डि रचत धुनि डण्डि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमसान अति भूपण तेज कियो अटल,
सिवराज साहि सुव खग्गवल दलि अडोलव हलोलदल।

(भूषण)

यहा डकार की अनेक वार आवृत्ति हुई है। 'गिद्ध' इत्यादि में तृतीय चतुर्थ का और 'खग्ग' में समान वर्ण का संयोग होने से परुषा वृत्ति है।

कोमला वृत्ति या पाञ्चाली रीति

'उपनागरिका' और 'परुषा' में जिन वर्णों का उपयोग हुआ है, उनसे अतिरिक्त (य, र, ल, व, स, ह) वर्ण जहां हों, समास या तो हों ही नहीं या छोटे २ हों, वहां कोमला वृत्ति या पाञ्चाली रीति होती है।

उदाहरण—

दिसि विदिसिनि सरितानि, सरनि अवनि अकास अपार।
वन उपवन वेलिन वलित, ललित बसन्त बहार॥

(वि० सतसई)

यहां 'स' 'ल' की अनेक वार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और कोमला वृत्ति है।

छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का भेद

छेकानुप्रास में एक या अनेक वर्णों की केवल एक बार आवृत्ति होती है। वृत्त्यनुप्रास में एक या अनेक वर्णों की अनेक वार आवृत्ति होती है। देखो ४६ पृष्ठ और ४८।

श्रुत्यनुप्रास[1]

जहां एक स्थान से बोले जाने वाले भिन्न भिन्न वर्णों का श्रवण हो, उसे 'श्रुत्यनुप्रास' कहते हैं। जैसे—

धन्य जन्म जगतीतल तासु,
पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासु।

यहां तालव्य, दन्त्य और ओष्ठ्य अक्षरों का श्रुत्यनुप्रास है।

दूसरा उदाहरण—

सलिल सों नित सींचति आस के,
सतत राखति जो तन वेलि है।
पथिक बैठि अरे तुव बाट को,
युवति जोवति है कतहूं कोऊ॥

---

१ जहां तालु कण्ठादि के, व्यञ्जन समता जोग।
सोई श्रुत्यनुप्रास है, कहत सुघर कवि लोग॥

यहां प्रथम और द्वितीय पाद में 'दन्त्य' वर्णों का श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास

जहां पद्य के चारों पादों के या कुछ के अन्त्य के सस्वर व्यञ्जन समान हों, उसे 'अन्त्यानुप्रास' कहते हैं। इसको हिन्दी में 'तुकान्त' भी कहते हैं। इसके पांच भेद होते हैं।

सर्वान्त्यानुप्रास

जिसके चारों पादों के अन्त्य सस्वर व्यञ्जन समान हों, उसे सर्वान्त्यानुप्रास कहते हैं। जैसे—

ये सब सुर तेरे याचक हैं, गति इनकी कुण्ठित सारी।
है तीनों लोकों का मन्मथ[1] कार्य महा मगल कारी॥
तव धन्वा के लिये काम यह, नहीं निपट घातक भारी।
तेरे तुल्य न वीर और हैं, अहो विचित्र वीर्य धारी॥

यहां 'आरी' इसकी चारों पादों के अन्त्य में समानता है। 'सवैया' आदि छन्दों में चारों 'तुक' एक से ही होते हैं।

समान्त्यविषमान्त्यानुप्रास

जहां प्रथम पाद का 'तुक' तृतीय पाद के 'तुक' से और

---

१ व्यञ्जन स्वरयुत एक से, जो पदान्त में होय।
सो अन्त्यानुप्रास है, अरु तुकान्त सो होय॥

द्वितीय का चतुर्थ पाद के तुक से मिलता हो, उसे 'समान्त्य विषमान्त्यानुप्रास' कहते हैं। जैसे—

मूक होंहिं बाचालु, पङ्गु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयालु, द्रवहु सकल कलिमल दहन॥
(रामचरितमानस)

समान्त्यानुप्रास

जहां केवल द्वितीय और चतुर्थ के 'तुक' आपस में मिलते हों, उसे समान्त्यानुप्रास कहते हैं। जैसे—

भ्रमर इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर।
लेना चम्पक गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर॥

विषमान्त्यानुप्रास

जहां केवल प्रथम तृतीय पाद का ही 'तुक' मिलता हो, उसे विषमान्त्यानुप्रास कहते हैं। जैसे—

जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भल।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत ही॥

समविषमान्त्यानुप्रास

जहां प्रथम द्वितीय का और तृतीय चतुर्थ का 'तुक' मिलता हो, उसे 'समविषमान्त्यानुप्रास' कहते हैं। जैसे—

बोले वन में मोर नगर में डोले नागर।
करने लगे तरङ्ग भङ्ग सौ सौ स्वर गाकर॥
उठी क्षुब्ध सी अहा! अयोध्या की नरसत्ता।
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता॥

(साकेत)

शब्दानुप्रास या लाटानुप्रास

भिन्न तात्पर्य वाले एक या अनेक समानार्थक शब्दों की समता को शब्दानुप्रास या लाटानुप्रास कहते हैं।

शब्दानुप्रास में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है, उनके अर्थ में कोई भेद नहीं होता। अर्थ वही रहता है, केवल अन्वय (शब्दों के परस्पर सम्बन्ध) के कारण वक्ता के तात्पर्य में भेद हो जाता है। लाटानुप्रास इसको इसलिये कहते हैं कि यह लाट देश निवासियों को अत्यन्त प्रिय है। लाट नाम कश्मीर का है, ऐसा बहुत लोगों का मत है।

---

१ शब्द अर्थ एकै रहै, अन्वय करत हिं भेद।
सो लाटानुप्रास है, भाषत सुकवि अखेद॥

(अ० म०)

उदाहरण जैसे—

वे घर हैं वन ही सदा, जहँ है बन्धु वियोग।
वे घर हैं वन ही सदा, जहँ नहिं बन्धु वियोग॥

(का० क० द्रु०)

यहां 'वे घर हैं वन ही सदा' इन अनेक शब्दों की उत्तरार्ध में आवृत्ति हुई है। परन्तु दोनों जगह इन शब्दों के अपने २ अर्थों में कोई अन्तर नहीं, केवल अन्वय के भेद के कारण तात्पर्य में भेद हो जाता है। पूर्वार्ध में 'वे घर सदा वन ही हैं' ऐसा अन्वय करना पड़ता है। उत्तरार्ध में 'वे वन सदा घर ही हैं' इस प्रकार अन्वय होता है। एक जगह घर उद्देश्य है, वन विधेय है। दूसरी जगह इसके विपरीत वन उद्देश्य है, घर विधेय है। दूसरा उदाहरण—

चाहत चित चितचोर को डारी मदन मरोर।

यहां 'चित' शब्द की आवृत्ति है। पहले उदाहरण में अनेक शब्दों की आवृत्ति थी। यहां केवल एक शब्द की आवृत्ति है।

यमक[1]

निरर्थक अथवा भिन्न भिन्न अर्थों वाले सार्थक, वर्ण समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति का नाम यमक है।

---

१ वहै शब्द फिरि फिरि परै, अर्थ और ही और।
सो यमकालंकार है, भेद अनेकन ठौर॥

यह यमक कई प्रकार का होता है। जैसे—

हृदय ! सुस्थिर होकर देख तू,
नियति का बल केवल है जिसे।
कठिन कण्टक मार्ग उसे सदा,
सुगम है गम है करना वृथा ॥

(रामचरित उपाध्याय)

सुखद हो सकती न उलूक को,
नय विशारद ! शारदचन्द्रिका।

(रा० उ०)

यहां पहले पद्य में 'गम है' की और दूसरे में 'शारद' की आवृत्ति है।

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै
वृन्दावन वीथिन बहार बंसीवट पै।
वीथिन में व्रज में नवेलिन में वेलिन में
बनन में बागन में बगरो बसन्त है ॥

(पद्माकर)

यहां पहले पद्यांश में 'मालन पै' इन वर्णों की और दूसरे में 'वेलिन में' इसकी आवृत्ति है।

सजनी सज नीले वसन, भूषण भूष न अंग।
रजनी रज नीकी चली, अली अली लै संग॥

(रा० स०)

इस दोहे के पहले तीन पादों के आदि में यमक है।

काके पा गहि भा भली, पागहि दीनी लाल।
को निगुनी गुन लै दई, यह निगुनी नव माल॥

(रा० स०)

यहां प्रथम पाद के मध्य भाग की द्वितीय पाद के आदि में और तृतीय पाद के मध्य भाग की चतुर्थ पाद के मध्य भाग में आवृत्ति हुई है।

धरत न चित सीखे कहा, दुरत न लोक कलंक।
रहत सदा परदा रहित, परदारहित निसंक॥

(वि० स०)

यहां प्रथम पाद के मध्य भाग की द्वितीय के मध्य में और तृतीय के अन्त्य भाग की चतुर्थ के आदि में आवृत्ति हुई है।

धरहरि धरि घर जाइये, अब अर हरि किहि हेत।
कालि प्रभात मिलाय हौ, यहि अरहरि के खेत॥

(रा० स०)

यहां द्वितीय पाद के मध्य भाग की चतुर्थ पाद के मध्य में आवृत्ति हुई है।

मैं न लखी ऐसी दसा, जैसी कीनी मैन।
तब तें लागे नैन नहिं, जब ते लागे नैन॥

(रा० स०)

यहां पूर्वार्ध में प्रथम पाद की आदि भाग की द्वितीय पाद के अन्त भाग में और उत्तरार्ध में तृतीय पाद के मध्य भाग की चतुर्थ पाद के अन्त में आवृत्ति हुई है।

इस प्रकार के यमक के अनन्त भेद हो जाते हैं। यहां थोड़े से प्रसिद्ध भेद बता दिये गए हैं। विशेष ज्ञान के लिये 'कविप्रिया' आदि ग्रन्थों को देखना चाहिये।

लाटानुप्रास और यमक का भेद

लाटानुप्रास में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है, वे सब समानार्थक होते हैं। किन्तु 'यमक' में समानार्थक नहीं होते। या तो वे भिन्न अर्थ वाले होते हैं, या बिलकुल निरर्थक, या दो में से एक का अर्थ होता है, दूसरा निरर्थक रहता है।

श्लेष[1]

जहां एक शब्द अनेक अर्थों का बोधक होता है, उसे 'श्लेष' अलङ्कार कहते हैं।

---

[1] दोय तीन अरु भांति बहु, आवत जा में अर्थ।
श्लेष नाम ताको कहत, जिनकी बुद्धि समर्थ॥

(अ० म०)

यह श्लेष दो प्रकार का होता है—शब्दश्लेष और अर्थ-श्लेष। शब्दश्लेष में शब्द बदले नहीं जा सकते। क्योंकि उन्हीं शब्दों के रहने पर कवि के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द बदल देने पर नहीं। यदि शब्द बदल देने पर अर्थ वैसा ही बना रहे जैसा कि कवि का अभिप्राय है तो वहां अर्थश्लेष होगा। अर्थश्लेष अर्थालङ्कार है। क्योंकि उसका सम्बन्ध अर्थ के साथ है, शब्द के साथ नहीं। यह शब्दालङ्कारों का प्रकरण है। इसलिये हम यहां शब्दश्लेष का ही उदाहरण देंगे। शब्दश्लेष के दो भेद हैं—सभङ्ग शब्दश्लेष और अभङ्ग शब्दश्लेष।

सभङ्ग शब्दश्लेष

जहां पद को तोड़ मरोड़ कर दो अर्थ प्रतीत होते हों, वह सभङ्ग शब्दश्लेष होता है।

अभङ्ग शब्दश्लेष

जहां पद को तोड़ना मरोड़ना न पड़े किन्तु जैसे एक वृन्त में दो या अनेक फल जुड़े हुए होते हैं, इसी तरह एक अखण्ड शब्द में अनेक अर्थ हों, वहां अभङ्ग शब्दश्लेष होता है।

दोनों श्लेषों का उदाहरण जैसे—

जो पूतनामारण में सुदक्ष,
विपक्ष काकोदर को विलक्ष[1]।
किया जिन्होंने, वह ताप हारी,
हरे हमारी प्रभु पीर सारी ॥

(का० क० द्रु०, परिवर्तित)

यह भगवान् राम और कृष्ण का श्लिष्ट वर्णन है। यहां 'पूतनामारण में' सभङ्ग श्लेष है। भगवान् राम के पक्ष में—पूतनामा-पवित्र नाम वाले, रण में-संग्राम में, सुदक्ष-यह अर्थ किया जाता है। श्रीकृष्ण पक्ष में—'पूतना मारण में' यह एक ही पद माना जाता है और पूतना नाम की राक्षसी को मारने में सुदक्ष' यह अर्थ किया जाता है। इसलिये यह शब्दश्लेष सभङ्ग है, क्योंकि यहां 'राम' और 'कृष्ण' का ज्ञान करने के लिये पद को तोड़ना जोड़ना पड़ता है। 'काकोदर' शब्द में अभङ्ग शब्दश्लेष है। क्योंकि यह शब्द विना जोड़ तोड़ के 'जयन्त (इन्द्र का पुत्र) और कालिय नाग' इन दोनों अर्थों का बोधक होता है। राम पक्ष में 'काकोदर' का अर्थ जयन्त होता है। भगवान् राम ने वनवास के समय

---

1 लज्जित।

काकरूप धारी इन्द्र के पुत्र जयन्त का मानमर्दन करके उसको लज्जित किया था, यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है। कृष्णपक्ष में काकोदर शब्द का 'कालिय नाग' अर्थ होता है। श्रीकृष्ण जी के द्वारा कालिय दमन की कथा भी भागवतादि पुराणों में प्रसिद्ध है।

ये दोनों शब्द बदले नहीं जा सकते। इन्हीं शब्दों के रहने पर दो अर्थ प्रतीत होने से विशेष चमत्कार का अनुभव होता है, इसलिये यह शब्दश्लेष है।

श्लेष अलङ्कार के लिये एक नियम और भी है, जिसका ध्यान में रहना परम आवश्यक है। श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं अर्थात् कवि का अभिप्राय दोनों अर्थों को बताने में रहता है। यदि शब्द से अनेक अर्थ प्रतीत हों परन्तु कवि का अभिप्राय किसी एक विशेष अर्थ में हो तो वहा श्लेप नहीं होता। क्योंकि वहां प्रकरण आदि के द्वारा जिस अर्थ में कवि का अभिप्राय निश्चित होता है, उसी अर्थ में शब्द की शक्ति (अभिधा) नियमित हो जाती है और वही अर्थ वाच्य होता है। दूसरा अर्थ व्यञ्जना से बताया जाता है, इसलिये व्यङ्गय कहलाता है। इसका निरूपण हम द्वितीय उल्लास में कर चुके हैं।

पुनरुक्तवदाभास[1]

जहां वस्तुतः भिन्न भिन्न अर्थ वाले पद समानार्थक जैसे प्रतीत हों, उसे पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

बाती[2] विरति[3] विचार, चित दीपक घृत-भव भगति।
नसत तिमिर ससार, जगत जोति जब ज्ञान की॥

(भारती भूषण)

यहां भव, संसार और जगत—ये तीनों शब्द समानार्थक जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव में ये तीनों पद क्रमशः महादेव, विश्व और प्रज्वलित—इन भिन्न २ अर्थों के बोधक होते हैं।

अली भौंर गूंजन लगे, होन लगे दल पात।
जहँ तहँ फूले रुख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात॥

(अ० म०)

---

१ जानि परै पुनरुक्ति सी, पै पुनरुक्ति न होय।
पुनरुक्तिवदाभास तेहि, भूषण कह सब कोय॥

(अ० मं०)

२ बत्ती। ३ वैराग्य।

यहां भी अली और भौंर, दल और पात, रुख और तरु, प्रिय और प्रीतम—ये शब्द परस्पर समान अर्थ वाले जैसे लगते हैं, परन्तु वस्तुतः ये समानार्थक नहीं हैं। 'अली' का अर्थ सखी है, 'पात' का अर्थ गिरना है, 'रुख' का अर्थ नीरस-सूखा हुआ और 'प्रिय' का अर्थ प्यारा है।

यमक और पुनरुक्तवदाभास में भेद

यमक में शब्दों का आकार समान होता है और पुनरुक्त-वदाभास में भिन्न भिन्न।

उदाहरण जैसे—

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें, हरि! नीके ये नैन॥

(विहारी)

विहारी कवि के इस पद्य के उत्तरार्ध में 'हरिनी के' इस शब्द की आवृत्ति है। दोनों का आकार समान है।

पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण में 'भव, संसार, जगत्' ये पद भिन्न भिन्न आकार वाले हैं।

हिन्दी-साहित्य के कई ग्रन्थों में पुनरुक्तिप्रकाश, वीप्सा, प्रहेलिका, चित्र (खड्गबन्ध, पद्मबन्ध आदि) और भी अनेक शब्दालङ्कार गिनाए हैं। हम ने उन्हें यहां नहीं दिया है,

क्योंकि उनमें विशेष चमत्कार न होने से 'अलङ्कार' कहलाने की योग्यता ही नहीं है। प्रहेलिका आदि तो वास्तव में अलङ्कार कहलाने योग्य हैं ही नहीं।

'रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।'

(साहित्यदर्पण)

'प्रहेलिका आदि अलङ्कार नहीं हो सकते। क्योंकि ये रसास्वाद के प्रतिबन्धक हैं।' इनमें उक्ति-वैचित्र्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए इन (प्रहेलिकादि) में अलङ्कार शब्द का प्रयोग गौण समझना चाहिए। काव्य-प्रकाशकार तो ऐसे काव्यों को 'काव्यान्तर्गडु' काव्य के अन्दर गांठ कहते हैं। जैसे गन्ने की गांठ गन्ना चूसने में विघ्न डालती है, उसी तरह ये भी काव्यरूपी गन्ने के रसास्वाद में विघ्न डालने वाले हैं। हाँ, वक्ता की वाक्चातुरी और शब्दों पर प्रभुत्व इनसे अवश्य प्रकट होता है।

पञ्चम उल्लास

अर्थालङ्कार

जिससे अर्थ की शोभा बढ़े अथवा जो अर्थगत चमत्कार का हेतु हो, उसे 'अर्थालङ्कार' कहते हैं।

अर्थालङ्कार में अर्थ की प्रधानता होती है। इसलिए यहां शब्द बदल देने पर भी यदि अर्थ वही रहे तो चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता। अर्थालङ्कारों में 'उपमा' सब से प्रधान है। इसकी प्रधानता का कारण यह है कि यह जरा कहने का ढंग बदलते ही भिन्न २ अलङ्कारों का रूप धारण कर लेती है। जैसे-'चन्द्र के समान मुख' यह उपमालङ्कार है। यहां चन्द्र और मुख का सादृश्य बताया गया है। सादृश्य को ही उपमा कहते हैं। यही सादृश्य यदि 'चन्द्र के समान मुख और मुख के समान चन्द्रमा' इस वाक्य से प्रकट किया जाय तो 'उपमेयोपमा' कहलाता है। 'मुख के सदृश मुख' यों कहें तो 'अनन्वय' बन जाता है। 'मुख के सदृश चन्द्र' ऐसा कहने पर 'प्रतीप' का रूप धारण करता

है। 'चन्द्र को देखकर मुख की याद आती है' इस तरह कहने से 'स्मरण' का अभिनय करता है। 'मुख ही चाँद है' यहां वही सादृश्य रूपक के रूप में उपस्थित है। 'मुख चन्द्र से ताप शान्त होता है' यहा 'परिणाम' में परिणत हो गया है। 'क्या यह मुख है या चाँद' यहां 'सन्देह' वन गया है। 'चकोर चन्द्रमा समझ कर तुम्हारे आनन की ओर लपकता है' यहाँ 'भ्रान्ति' के वेप में आया है। इसी प्रकार अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त आदि अनेक अलङ्कारों का मूल यह उपमा ही है। उपमा के इसी अनोखे गुण को लेकर 'चित्रमीमांसा' के कर्ता श्री अप्पय दीक्षित ने क्या ही सुन्दर कहा है—

"उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥"

'उपमा' एक अनूठी नटी है, जो नाना वेष बदल कर (उपमेयोपमा, अनन्वय आदि भिन्न २ अलङ्कारों के रूप में प्रकट होकर) काव्यरूपी रंगस्थली (स्टेज) में नाचती हुई सहृदयों के चित्त को आनन्दित करती है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि उपमा अनेक अलङ्कारों का 'वीज' है। इस के ज्ञान से उनका ज्ञान सहज में ही हो सकता है। इसलिये सब से प्रथम 'उपमा' का ही निरूपण किया जाता है।

उपमा[1]

एक दूसरे से भिन्न उपमान और उपमेय के परस्पर सादृश्य को 'उपमा' कहते हैं।

जहां उपमान और उपमेय एक दूसरे से भिन्न नहीं होते किन्तु एक ही व्यक्ति उपमान और उपमेय दोनों हो, वहां 'उपमा' अलंकार नहीं होता। जैसे 'राम रावण का युद्ध राम रावण के युद्ध के समान था' यहां उपमेय और उपमान परस्पर भिन्न नहीं हैं। एक ही युद्ध उपमान भी है और उपमेय भी।

उपमा के प्रधानतः दो भेद हैं—एक पूर्णोपमा, दूसरी लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा

उपमान, उपमेय, समान धर्म और उपमा (सादृश्य) वाचक शब्द—ये चारों जहां विद्यमान हों, वहां पूर्णोपमा होती है। उदाहरण जानने से पहले इन चारों का स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है।

---

१ जहां दुहुन की देखिये, सोभा बनति समान।
उपमा भूषन ताहि को, भूषन कहत सुजान॥
(भूषण)

उपमान[1] और उपमेय

जिसकी समानता किसी अपने से अनुत्कृष्ट (हीन) वस्तु में वताई जाय, उसे 'उपमान' कहते हैं। जिस वस्तु में अपने से उत्कृष्ट किसी दूसरी वस्तु की समता वताई जाय, उसे 'उपमेय' कहते हैं। जैसे—'चन्द्र के समान मुख' यहां चन्द्र की समता मुख में वताई गई है और मुख चन्द्रमा की अपेक्षा अनुत्कृष्ट भी है, इसलिये चन्द्र 'उपमान' है और मुख 'उपमेय' है। 'उपमान' सदा उपमेय की अपेक्षा उत्कृष्टगुणवाला होता है और उपमेय उपमान की अपेक्षा निकृष्टगुणवाला।

समान[2] धर्म

हमने 'उपमा' के लक्षण में 'सादृश्य' (समानता) को उपमा वताया है। दो वस्तुओं का सादृश्य विना किसी 'समान धर्म' के वन नहीं सकता। क्योंकि 'सदृश' आदि शब्दों का प्रयोग वहीं किया जाता है, जहां दो वस्तुओं का

---

१ जाकी समता दीजिये, ताहि कहिय उपमान।
जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय प्रमान॥
(अ० म०)

२ उपमेय रु उपमान मे, समता जेहि हित होय।
सो साधारण धर्म है, कहत सयाने लोग॥
(अ० म०)

किसी समान धर्म से सम्बन्ध हो। जैसे—'चन्द्र के सदृश मुख' यहां मुख और चन्द्र को सदृश बताया है। अब यहां यह जिज्ञासा होती है कि चन्द्र और मुख को सदृश क्यों कहा गया। इस जिज्ञासा की शान्ति इस उत्तर से होती है—क्योंकि चन्द्र और मुख मे 'आल्हादकता' रूप समान धर्म रहता है, इसलिये दोनों सदृश हैं। संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि जो 'सादृश्य' व्यवहार का हेतु (प्रयोजक) है, उसे समान-धर्म कहते हैं।

सादृश्यवाचक[1] शब्द

जो शब्द सादृश्य के बताने वाले है, वे सादृश्यवाचक या उपमावाचक कहलाते हैं। सो, से, सी, इव, यथा, ज्यों, जैसे, जैसा, जिमि, लौं, तुल्य, तूल, समान, सम, सदृश आदि शब्द 'उपमा या सादृश्यवाचक' हैं।

उदाहरण—

गुन पै रिझवति दोस सों, दूर बचावति जौन।
स्वामि भक्ति जननी सरिस, प्रनमत नित हम तौन॥

(मुद्राराक्षस)

---

१ सो से सी इव तूल लौं, सम समान उर आन।
ज्यों जैसे इमि सरिस जिमि, उपमा वाचक जान॥

(अ० म०)

यहां 'जननी' उपमान है, 'स्वामि भक्ति' उपमेय है, 'गुणों पर प्रसन्न होना और दोषों से रक्षा करना' दोनों का समान धर्म है और 'सरिस' शब्द उपमावाचक है। उपमान आदि चारों का प्रतिपादन होने से यह पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा

जहां 'उपमान' आदि चारों में से एक,' दो या तीन लुप्त हों, वहा 'लुप्तोपमा' होती है। इसके आठ भेद है, जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमश. आगे वताते हैं।

१ धर्मलुप्ता

जहां उपमान और उपमेय का 'समानधर्म' न वताया गया हो और वाकी तीन वता दिये गये हों, उसको 'धर्मलुप्ता' उपमा कहते हैं। जैसे—

करि प्रनाम राम हिं त्रिपुरारी, हरपि सुधा-सम गिरा उचारी।

(रा० मा०)

यहां उत्तरार्ध में 'सुधा' उपमान है, 'गिरा' उपमेय है और 'सम' उपमावाचक है। केवल उपमान और उपमेय का समान धर्म 'परिणाम में सुखकर होना' आदि यहां नहीं वताया गया है।

२ उपमानलुप्ता

जहां केवल उपमान का लोप हो, उसे 'उपमान-लुप्ता' कहते हैं। जैसे—

देखी सुनी न किहिं कहैं, राधा सी रमनीय।
त्रिभुवन मैं तिमि कान्ह सो, कतहु न कोउ कमनीय॥

(भारती भूषण)

यहां पूर्वार्ध मे 'राधा' उपमेय है, 'रमणीयता' समान धर्म और 'सी' उपमावाचक है। उत्तरार्ध मे 'कान्ह' 'कमनीयता' 'सो' क्रमशः उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक हैं। परन्तु उपमान दोनों जगह नहीं है। यद्यपि 'सी' आदि उपमा वाचक शब्द जिसके आगे आते हैं, उन में उपमानता की प्रतीति होती है, इसलिये यहां 'राधा' और 'कान्ह' को उपमान मान कर इसे 'उपमेयलुप्तोपमा' का उदाहरण कहना चाहिये ऐसी शङ्का यहां हो सकती है, तथापि यहां 'राधा' और 'कान्ह' उपमेय ही हैं। क्योंकि वे ही यहां वर्णनीय हैं। उपमेय ही वर्णनीय हुआ करता है, उपमान नहीं। इसी लिये उपमान को अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत आदि शब्दों से कहते हैं और उपमेय को वर्ण्य, प्रस्तुत, प्रकृत आदि शब्दों से। अतः इसे 'उपमानलुप्ता' का ही उदाहरण समझना चाहिये।

३ वाचक-लुप्ता

जहां 'उपमावाचक' का लोप हो, उसे 'वाचकलुप्तोपमा' कहते हैं। जैसे—

नील-सरोरुह-श्याम, तरुन-अरुन-वारिज-नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा क्षीर-सागर-शयन॥

(रा० मा०)

यहां क्षीर-सागर में शयन करने वाले भगवान् विष्णु उपमेय हैं, 'नीलकमल' उपमान है, 'श्यामता' समान धर्म है, 'सो' 'से' 'सी' आदि उपमावाचक कोई शब्द नहीं है।

४ वाचकधर्मलुप्ता

जहां 'उपमा-वाचक' और 'समान-धर्म' दोनों का लोप हो, वहा 'वाचकधर्मलुप्ता' होती है। जैसे—

थी तू वारिजलोचनी विधुमुखी वामोरु विम्बाधरी,
थी फूली कमनीय कल्पलतिका के तुल्य तू सुन्दरी।
तेरी चाल मराल सी सुतनु ! मैं हू भूल पाता नहीं,
तेरा साम्य कहीं त्रिलोक भर में है दृष्टि आता नहीं॥

(गोपालशरण सिंह)

यहां प्रथम पाद में वारिज, विधु और बिम्ब उपमान

है। लोचन, मुख और अधर—ये इन के क्रमशः उपमेय हैं। 'उपमावाचक' और 'समानधर्म' का अभाव है।

५ धर्मोपमानलुप्ता

जहां धर्म और उपमान का लोप हो, उसे 'धर्मोपमानलुप्ता' कहते हैं। जैसे—

भूं भूं करि मरि है वृथा, केतकि कण्टक मांहि।
रे अलि! मालति-सम कुसुम, ढूंढेहु मिलि है नाहिं॥

(का० क० द्रु०)

यहा उपमेय 'मालती' और वाचक 'सम' शब्द दिये गए है, परन्तु 'उपमान' और 'समान धर्म' का यहां लोप है।

६ वाचकोपमेयलुप्ता

इत तें उत उत ते इतै, छिन न कहूं ठहराति।
जक न परति चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

यहां 'चकई' (चकरी) उपमान है और 'फिर फिर कर आना जाना' समानधर्म है। वाचक 'सी' आदि शब्द और उपमेय 'नायिका' का यहां लोप है।

७ वाचकोपमानलुप्ता

जहां उपमावाचक और उपमान का लोप हो, उसे 'वाचकोपमानलुप्ता' कहते है। जैसे—

'मृगदारक-दीरघ-नयन'

(भारती भूषण)

'मृग के बच्चे के नयनों के सदृश बड़े नयनों वाली' यह इसका अर्थ है। यहां नायिका-नयन 'उपमेय' का और 'दीर्घता' समान धर्म का तो ग्रहण है, परन्तु 'मृगदारक नयन' उपमान का और 'सदृश' आदि उपमा वाचक का ग्रहण नहीं है।

८ धर्मोपमानवाचकलुप्ता

जहां धर्म, उपमान और वाचक तीनों लुप्त हों, केवल उपमेय का उपादान हो, उसे 'धर्मोपमानवाचकलुप्ता' कहते हैं। जैसे—

'विधुवदनी मृग-सावक-लोचनि'

यहां केवल 'उपमेय' नायिका के लोचन का ग्रहण है और उपमान, समान धर्म और वाचक का लोप है। यदि कोई कहे कि 'मृगसावक' उपमान है तो सही, फिर उपमान का लोप कैसा ? इसका उत्तर यह है कि नायिका के लोचन 'मृगसावक' के सदृश नहीं हैं किन्तु 'मृगसावकलोचन के सदृश हैं, इसलिये मृग-सावक-लोचन' उपमान हैं, न कि स्वयं मृग-सावक। 'मृग-सावक लोचनि' यह 'बहुव्रीहि' समास है।

इसका अर्थ है-मृग-सावक के लोचनों के समान लोचनों वाली। समास होने के कारण उपमान 'लोचन' का और उपमा-वाचक का लोप हो गया है।

उपमा के और भी कई भेद होते हैं। जैसे—

मालोपमा

जहां उपमेय एक हो और उपमान अनेक हों, उसे 'मालोपमा' कहते हैं।

कीरति तिहारी राम, कहा कहै 'हनुमान',
दसों दिसि दिव्य दीह दीपति अकेली सी।

भोडर[1] सी भूपन सी भानु सी भगीरथी सी,
भारती सी भव सी भँवा[2] सी भुज वेली सी।

कुन्द सी कविन्दै[3] सी कुमुद सी कपूरिका सी,
कंजन की कलिका कलपतरु केली सी।

चपला सी चक्र सी चमर सी औ चन्दन सी,
चन्द्रमा सी चॉदनी सी चाँदी सी चमेली सी।

(हनूमान)

---

१ अभ्रक। २ पार्वती। ३ शुक्रतारा।

यहां भगवान् रामचन्द्र जी की कीर्ति उपमेय है और उसके भोडर आदि अनेक उपमान हैं।

दूसरा उदाहरण—

सफरी से अति चपल हैं, दीरघ मृग सम ऐन।
कमल पत्र से सुघर ये, राधा जी के नैन॥

(का० क० द्रु०)

यहां राधा जी के नैन उपमेय हैं और उनके 'सफरी' और 'मृग-नेत्र' अनेक उपमान हैं। पहले उदाहरण में उपमानों और उपमेय का समान धर्म 'दशों दिशाओं में प्रकाश' एक ही है। दूसरे में 'अति चपलता' और 'दीर्घता' समान धर्म भिन्न भिन्न हैं।

रशनोपमा

जहां पूर्व पूर्व उपमेय को उत्तरोत्तर वाक्य में उपमान बना दिया जाय, उसे 'रशनोपमा' कहते हैं। जैसे—

कुल सी मति, मति सो मन, मन ही सो गुरु दान।

यहा 'कुल सी मति' इस वाक्य में 'मति' उपमेय है, उस

१ कथित प्रथम उपमेय जहँ, होत जात उपमान।
ताहि कहैं रसनोपमा, जे जग सुकवि प्रधान॥

(अ० म०)

को 'मति सो मन' इस वाक्य में 'उपमान' बना दिया गया है। इसी तरह मन 'उपमेय' को तीसरे वाक्य में 'उपमान' बनाया है

दूसरा उदाहरण—

वच सी माधुरि मूरती, मूरति सी कल कीति।
कीरति लौं सब जगत में, छाइ रही तव नीति॥

यहां भी प्रथम वाक्य में मूर्ति उपमेय है, वही दूसरे वाक्य में उपमान है। दूसरे वाक्य में कीर्ति उपमेय है, वह तीसरे में नीति का उपमान बन गई है। प्रथम उदाहरण में 'गुरुत्व' रूप समान धर्म अभिन्न (एक) है। दूसरे उदाहरण में 'माधुर्य' 'सुन्दरता' 'सब जगत् में छा जाना' ये भिन्न २ समान धर्म हैं।

संक्षेप से उपमालङ्कार का निरूपण हो चुका। यहां इतनी बात जान लेनी चाहिये कि चमकत्कारजनक 'सादृश्य' ही अलङ्कार माना जाता है। 'गधे के से लम्बे कान' 'बन्दर जैसा मुख' इत्यादि वाक्यों मे यद्यपि 'सादृश्य' प्रतीत होता है तथापि वह चमत्कारजनक न होने से अलङ्कार नहीं है।

अनन्वय[1]

जहां एक वाक्य में एक ही वस्तु उपमान भी हो और

---

१ जहा होय उपमेय को, उपमेयै उपमान।
तहां अनन्वय कहत है, जे जन परम सुजान॥
(अ० म०)

उपमेय भी वहां 'अनन्वय' अलङ्कार होता है। जैसे—

गगन सदृश है गगन ही, जलधि जलधि-सम जान ।
है रण रावण-राम को, रावण-राम समान ॥
(का० क० द्रु०)

यहां 'गगन' 'जलधि' 'राम रावण का रण' ये तीनों स्वय उपमान है और स्वय ही उपमेय हैं। इसी तरह।

'तेरी अँखियाँ सी प्यारी तेरी दोनों अँखियाँ।

यहां भी 'अनन्वय' अलङ्कार समझना चाहिये।

असम

जहां सर्वथा 'उपमान' का निषेध कर दिया जाय अर्थात् यह कह दिया जाय कि इस का 'उपमान' है ही नहीं, वहां 'असम' अलङ्कार होता है। जैसे—

सुकृती तुम समान जग माहीं,
भयउ न है कोउ होनउ नाहीं।
(रा० मा०)

यहां महाराज दशरथ 'उपमेय' हैं उनके उपमान का सर्वथा अभाव बताया गया है। इसलिए यह 'असमालंकार' है।

दूसरा उदाहरण—

मृदु, बेर, मुखप्रिय जम्बु फले,
कदली, शहतूत, अनार भले।

फलराज रसाल समान कहीं,
फल और मनोहर एक नहीं ॥

यहां उत्तरार्ध मे उपमेय 'रसाल' के उपमान का सर्वथा निषेध किया गया है।

उपमेयोपमा[1]

जहां उपमान और उपमेय को आपस में ही एक दूसरे का क्रमशः उपमेय और उपमान बना दिया जाय, वहां 'उपमेयोपमा' होती है। जैसे--

वचन सुधा से सन्त के, सुधा वचन-सम जान।
वचन खलन के विष-सदृश, विष खल-वचन समान॥

यहां प्रथमार्ध के पूर्व वाक्य में 'सुधा' उपमान है और 'सन्त-वचन' उपमेय है। दूसरे वाक्य में 'सुधा' उपमेय है और 'वचन' उपमान है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में भी उपमानोपमेय का वैपरीत्य है।

उपमेयोपमा और रशनोपमा का भेद

जो पहले वाक्य में उपमान और उपमेय हों, वे ही यदि

---

[1] उपमा लागे परसपर, सो उपमा उपमेय।
खञ्जन हैं तव नयन से, तव दृग खञ्जन सेय॥ (अ० म०)

दूसरे वाक्य में बदल कर उपमेय और उपमान बन जायँ तो उपमेयोपमा होती है। देखो उपमेयोपमा का उदाहरण पृ० ७८।

उपमेयोपमा से कवि का यह अभिप्राय होता है, कि ये दोनों ही आपस में एक दूसरे के सदृश हैं, तीसरी और कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो इनका उपमान बन सके।

रशनोपमा में जो पहले वाक्य में उपमेय होता है, वह दूसरे वाक्य में उपमान बन जाता है दूसरे वाक्य का तृतीय वाक्य में, इसी प्रकार उत्तरोत्तर उपमेय को उपमानता होती जाती है। परन्तु यहां प्रथम वाक्य में जो उपमान होता है, वह द्वितीय वाक्य में उपमेयोपमा की तरह उपमेय नहीं बन जाता, यही रशनोपमा का उपमेयोपमा से भेद है। देखो रशनोपमा का उदाहरण पृ० ७५।

प्रतीप

'प्रतीप' शब्द का अर्थ है विपरीत या उल्टा। उपमा के लक्षण में यह बात बताई गई है कि उपमान उपमेय की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। परन्तु प्रतीप में उपमान का अपकर्ष बताया जाता है, यही यहां विपरीतता या उल्टापन है। उपमान का अपकर्ष पाँच प्रकार से होता है, इसलिये यह प्रतीप पाँच प्रकार का है।

प्रथम प्रतीप[1]

जहां उपमान को उपमेय बना दिया जाय, वहां प्रथम प्रतीप होता है। उदाहरण जैसे—

मोहि देत आनन्द हो, वा मुख सो यह चन्द ।
लीनौ आइ छिपाइ कै, वैरी बादर-वृन्द ॥

(राजा रामसिंह)

यहां प्रसिद्ध उपमान 'चन्द्र' को मुख का उपमेय बनाया गया है, इसलिये प्रतीप है।

द्वितीय प्रतीप[2]

जहां उपमेय की अद्वितीयता का खण्डन करने के लिये उस (उपमेय) का सादृश्य उपमान में बताया जाय, वहां भी प्रतीप होता है। जैसे—

---

१ जहँ प्रसिद्ध उपमान को, करि बरनत उपमेय ।
तहँ प्रतीप उपमा कहत, भूषन कविता प्रेय ॥

(भूषण)

२ करत अनादर वर्न्य को, पाय और उपमेय ।
ताहू कहत प्रतीप जे, भूषन कविता प्रेय ॥

(भूषण)

कहा करति निज रूप को, गरब गहै अविवेक ।
रमा उमा शचि शारदा, तो सी तीय अनेक ॥

(क० क० द्रु०)

नायिका सौन्दर्य में अपने को अद्वितीय समझती है, उसकी अद्वितीयता का खण्डन करने के लिये उत्तरार्ध में 'रमा' आदि उपमानों में उस (नायिका) का सादृश्य बताया गया है, इसलिये यहां भी प्रतीप है ।

तृतीय प्रतीप[1]

जहां उपमान की अद्वितीयता का खण्डन करने के लिये उस (उपमान) के सदृश कोई दूसरी वस्तु बताई जाय, वहां भी प्रतीप होता है । यथा—

अवनि ! हिमाद्रि ! समुद्र ! जनि करहु वृथा अभिमान ।
सात धीर गभीर हैं, तुम सम राम सुजान ॥

(भारती भूषण)

यहां 'अवनि' आदि उपमानों को 'शान्ति' आदि गुणों में अद्वितीय होने का अभिमान है । इस अद्वितीयता का

---

1 आदर घटत अवर्न्य को, जहा वर्न्य के जोर ।
तृतिय प्रतीप बखानहीं, तहँ कविकुल सिर मोर ॥

(भूषण)

खण्डन करने के लिये उनका सादृश्य भगवान् राम में बताया गया है, इसलिये यहां भी प्रतीप है।

चतुर्थ प्रतीप[1]

जहां उपमान में उपमेय की समता बता कर फिर उसे (समता को) असत्य ठहराया जाय, उसे 'चतुर्थ प्रतीप' कहते हैं। यथा—

तो मुख एसो पङ्कसुत, अरु शशङ्क यह बात ।
बरनहिं झूठ अशङ्क कवि, बुद्धि रङ्क विख्यात॥

(का० क० द्रु०)

यहां पूर्वार्ध में 'कमल' और 'चन्द्र' उपमानों में उपमेय मुख की समता बताई गई है और उत्तरार्ध में उसे असत्य कहा गया है।

पञ्चम प्रतीप[2]

जहां उपमेय की विद्यमानता में उपमान की निष्फलता बता कर उस (उपमान) का तिरस्कार किया जाय, उसे पञ्चम प्रतीप कहते हैं। यथा—

---

१ उपमै जोग न उपमा होय, यह प्रतीप है चौथो सोय ।

(अलङ्कार दर्पण)

२ व्यर्थ होय उपमान जब, उपमै को लखि सार।
दृग आगे मृग कछु न ये, पञ्च प्रतीप प्रकार॥ (भा० भू०)

परिमल-पूरित पीत मृदु, मञ्जु गुसॉइन गात ।

अब अलि ! चम्पक फूल की, भूलि न कीजिय बात ॥

(भारती भूषण)

जब राधिका जी का शरीर ही सुगन्धित, पीत और कोमल होने के कारण चम्पक फूल का काम देता है तो फिर उस (चम्पक फूल) की क्या आवश्यकता है । यहां उपमान चम्पक फूल की निष्फलता बता कर उसका तिरस्कार किया गया है ।

रूपक

उपमेय और उपमान के अभेद (एकता) को रूपक कहते हैं ।

यह अभेद प्रतीति तब होती है, जब हम उपमेय में उपमान का आरोप करते हैं । अर्थात् सादृश्य के कारण उपमेय को ही उपमान समझते हैं ।

उदाहरण जैसे—

'सोहत है मुख चन्द्र'

---

१ जहा दुहुन को भेद नहिं, बरनत सुकवि सुजान ।

रूपक भूपण ताहि को, भूपण करत बखान ॥

(भूषण)

यहां 'आल्हादकता' आदि सादृश्य के कारण उपमेय मुख में उपमान चन्द्र का आरोप किया है, इसलिये मुख और चन्द्रमा में अभेद (एकता) की प्रतीति होती है।

यह रूपक तीन प्रकार का होता है—सावयव, निरवयव और परम्परित।

सावयव रूपक

जहां अनेक आरोप हों और वे परस्पर सापेक्ष हों अर्थात् उन में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव हो, वहां 'सावयव रूपक' होता है। क्योंकि वहां एक रूपक 'अङ्गी' (प्रधान) होता है और शेष उसके अङ्ग। इसीलिये इसको 'साङ्ग' रूपक भी कहते हैं। उदाहरण जैसे—

उदित उदय-गिरि-मञ्च पर, रघुवर बाल-पतङ्ग।
विकसे सन्त-सरोज सब, हरषे लोचन-भृङ्ग॥

यहां मञ्च, रघुवर, सन्त और लोचन उपमेय हैं। इन में क्रमशः उदय-गिरि, बाल-पतङ्ग, सरोज और भृङ्ग—इन उपमानों का आरोप किया गया है। ये चारों आरोप परस्पर सापेक्ष हैं, इन में अङ्गाङ्गि भाव है। 'उच्चता' आदि सादृश्य से कवि ने मञ्च में 'उदयगिरि' का आरोप किया। उदयगिरि पर सूर्य उदित होता है, यहां भी कोई सूर्य होना चाहिये। इसलिये भगवान् रघुवर को बाल-पतङ्ग (प्रातःकालिक सूर्य) बनाया।

उदयगिरि पर सूर्योदय होने से कमल खिला करते हैं, इसलिये 'सन्तों' को सरोज बनाया। विकसित कमलों से भौंरे प्रसन्न होते हैं, अत. उन (सन्तों) के नेत्रों में भौंरों का आरोप किया। यहां मञ्च में 'उदयगिरि' का या 'रघुवर' में बाल-पतङ्ग का आरोप 'अङ्गी' है और शेष अङ्ग हैं।

यह 'सावयव रूपक' दो प्रकार का होता है—समस्तवस्तु विषयक और एकदेशविवर्ति।

यदि सब आरोप्यमाण-जिन का आरोप किया गया है-अर्थात् उपमान-शब्द के द्वारा बताए गए हों, तब 'समस्त वस्तु विषयक' रूपक होता है। पूर्वोक्त पद्य ही इसका उदाहरण है क्योंकि वहां उदयगिरि आदि चारों आरोप्यमाण (उपमान) शब्द द्वारा बताए गए हैं।

जहां कुछ आरोप्यमाण (उपमान) शब्द द्वारा बताए गए हों और कुछ की अर्थात् (आक्षेप से) प्रतीति हो जाती हो, वहां 'एकदेशविवर्ति रूपक' होता है। उदाहरण जैसे—

रूप सलिल अति चपल चख, नाभि भँवर गम्भीर।
है वनिता सरिता विषम, जहँ मज्जत मति धीर॥

(का० क० द्रु०)

यहां वनिता, रूप, चपल चख (नेत्र) और नाभि में क्रमशः सरिता, सलिल, मीन और भँवर का आरोप किया गया है। 'मीन' को छोड़कर सरिता आदि तीन आरोप्यमाण

शब्द द्वारा बताए गए हैं, केवल 'मीन' ही शब्द द्वारा नहीं बताया गया है, परन्तु अर्थात् (आक्षेप से) उस की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि वनिता सरिता में 'चपल चख' मीन ही हो सकते हैं और कुछ नहीं। यहां भी वनिता में सरिता का आरोप 'अङ्गी' है, शेष उस के अङ्ग हैं, अतः ये सब परस्पर सापेक्ष हैं।

निरवयव रूपक

जहां आरोप निरपेक्ष हो अर्थात् उसे किसी की अपेक्षा न हो, वहां निरवयव रूपक होता है। इसे निरङ्ग रूपक भी कहते हैं। जैसे—

दुर्भिक्ष राक्षस जहां सब को सताता,
लाखों मनुष्य यह प्लेग कृतान्त खाता।
नाना विपत्ति अभिभूत प्रजा जहां है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझ को वहां है॥

यहां 'दुर्भिक्ष' में 'राक्षस' का और 'प्लेग' में 'कृतान्त' का आरोप किया गया है। ये दोनों आरोप किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, इसलिये निरपेक्ष हैं।

परम्परित रूपक

जहां मुख्य आरोप का कारण कोई दूसरा आरोप हो, उसे 'परम्परित रूपक' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है— श्लिष्ट परम्परित और अश्लिष्ट परम्परित।

जहां हेतुरूप आरोप श्लेष के कारण हो, वहा 'श्लिष्ट परम्परित रूपक' होता है। जैसे—

मुक्तारत्न सुवश-भव, तुहि न सराहत कौन।

(का० क० द्रु०)

यहां उपमेय में 'मुक्तारत्न' का आरोप किया गया है, परन्तु वह आरोप तब तक नहीं बन सकता जब तक सुवंश में—अच्छे कुल में, सुवश का—अच्छे बांस का (जिस में मोती पैदा होते हैं) आरोप न किया जाय। क्योंकि 'मुक्तारत्न' या तो सीप में या हाथी में या फिर वास में पैदा होता है। जिस उपमेय को हमने मुक्तारत्न बनाया है, वह इन तीनों में से कहीं भी पैदा नहीं हुआ, इसलिये उस में मुक्तारत्न के आरोप की सिद्धि के लिये सुवश में-अच्छे कुल में, सुवंश का-अच्छे वास का आरोप किया, अर्थात् कुल को ही मुक्तारत्नोत्पादक वास मान लिया। इस प्रकार उपमेय में मुक्तारत्न के आरोप का कारण सुवंश में सुवंश का आरोप है और वह आरोप श्लेष के कारण होता है, क्योंकि 'सुवश' पद में श्लेष है। इसलिये यह श्लिष्ट परम्परित रूपक है। अश्लिष्ट परम्परित रूपक जैसे—

तुम बिनु रघुकुल-कुमुद-विधु, सुरपुर नरक समान।

(रा० मा०)

यहा 'रघुकुल' में 'कुमुद' का आरोप भगवान् राम में 'विधु' के आरोप का कारण है। विधु—चन्द्रमा कुमुदों को

विकसित करता है परन्तु राम कुमुदविकासक नहीं हैं। उनमें चन्द्रमा का अभेद बताना किसी तरह भी बनता नहीं, इसलिये रघुकुल में कुमुद का आरोप किया। अब रघुकुल कुमुदविकासक होने से भगवान् राम में विधु का आरोप बन सकता है। यहाँ हेतुरूप आरोप श्लेषमूलक नहीं है, इसलिये 'अश्लिष्ट परम्परित रूपक' है।

रूपक पर अर्थ दृष्टि से विचार

पहले जो रूपक के तीन भेद बताए गए हैं, वे अर्थ प्रतीति को ध्यान में रख कर नहीं किये गए हैं, वे तो केवल रूपक की बाह्य परीक्षा के फल हैं। अर्थ पर दृष्टि रखते हुए यदि रूपक के भेद किये जायँ तो रूपक दो प्रकार का होता है—अभेद रूपक और ताद्रूप्य रूपक।

अभेद रूपक

जहां उपमान और उपमेय का शुद्ध अभेद (तादात्म्य) प्रतीत हो अर्थात् जहां उपमान रूप से ही उपमेय की प्रतीति हो, वहां अभेद रूपक होता है।

जैसे 'मुख चन्द्रमा है' यहां उपमेय मुख की प्रतीति चन्द्र रूप से ही होती है। मुख में और चन्द्रमा में भेद प्रतीत नहीं होता।

ताद्रूप्य रूपक

जहां उपमान और उपमेय का ताद्रूप्य-भेदगर्भित अभेद-

प्रतीत होता है, अर्थात् जहां उपमेय की प्रतीति उप-मान रूप से नहीं होती किन्तु उपमान के समान कार्य करने वाले के रूप से होती है, वहां तादूरूप्य रूपक होता है।

जैसे—'मुख दूसरा चॉद है' यहां 'दूसरा' शब्द के कहने के कारण मुख की प्रतीति चॉद रूप से नहीं होती किन्तु 'चॉद के समान कार्य करने वाला' इस रूप से। इन दोनों में प्रत्येक के तीन भेद होते हैं—सम न्यून और अधिक। जहां उपमेय में उपमान की अपेक्षा न्यूनता या अधिकता कुछ न बताई जाय, वहा 'सम' जहा न्यूनता बताई जाय वहां 'न्यून' और जहा अधिकता बताई जाय, वहां 'अधिक' होता है।

उदाहरण क्रमश नीचे दिये जाते हैं।

सम अभेद रूपक

उदाहरण जैसे—

जद्यपि नीति-निपुन नरनाहू, नारि-चरित-जलनिधि अवगाहू।

(रा० च० मा०)

यहा उपमान जलनिधि का उपमेय नारी चरित के साथ तादात्म्य (शुद्ध अभेद) प्रतीत होता है और उपमेय मे उपमान की अपेक्षा न्यूनता वा अधिकता कुछ नहीं बताई गई है, इसलिये यह 'सम अभेद रूपक' है।

न्यून अभेद रूपक

उदाहरण जैसे—

निटिल-नैन बिन लसत शिव, श्री शिवराज खुमान ॥
पक्षिराज बिन पक्ष को, वीर समीर कुमार ॥
(अ० म०)

पहले उदाहरण में शिव का और शिवा जी का तथा दूसरे में गरुड़ का और हनूमान् जी का शुद्ध अभेद प्रतीत होता है। परन्तु दोनों जगह उपमान की अपेक्षा उपमेय में न्यूनता बताई गई है, अर्थात् शिवा जी में ललाट-नेत्र की और हनूमान् जी मे पक्षों की कमी दिखाई गई है, इसलिये यहां न्यून अभेद रूपक है।

अधिक अभेद रूपक

उदाहरण जैसे—

उदित सदा कबहुं न घटत, राधा-वदन मयङ्क ।

यहां राधा-वदन और मयङ्क का अभेद प्रतीत होता है और मयङ्क उपमान की अपेक्षा मुख उपमेय में 'सदा प्रकाशित रहना, कभी न घटना'—यह आधिक्य बताया गया है।

सम तादूरूप्य रूपक

उदाहरण जैसे—

अमिय झरत चहुं ओर, नयन ताप हरि लेत ।
राधा मुख यह अपर शशि, उदित अमित सुख देत ॥
(का० क० द्रु०)

यहा राधामुख में शशी का आरोप करने से यद्यपि दोनों का अभेद प्रतीत होता है तथापि 'अपर' शब्द के कहने से भेद भी प्रतीत होता है, इसलिये भेदगर्भित अभेद प्रतीति होने के कारण ताद्रूप्य रूपक है। राधा का मुख चन्द्रमा के समान कार्य करने वाला है—यह तात्पर्य है। न्यूनता या अधिकता यहा कुछ नहीं बताई गई, इसलिये सम ताद्रूप्य रूपक है।

न्यून ताद्रूप्य रूपक

अपर धनेश जनेश यह, नहिं पुष्पक आसीन ।
द्वितिय गणेश सुवेश शुचि, सोहत शुण्ड विहीन ॥

(अ० म०)

यहां भी जनेश में धनेश और गणेश का आरोप किया गया है, परन्तु 'अपर' और 'द्वितिय' शब्दों के कहने से ताद्रूप्य रूपक है। उपमेय में 'पुष्पक विमान' और 'सूड' की न्यूनता बताई गई है, इसलिये न्यून ताद्रूप्य रूपक है।

अधिक ताद्रूप्य रूपक

नभ-मयङ्क ते अधिक यह, मुख-मयङ्क अकलङ्क ।

यहां भी मुख में मयङ्क का आरोप है। 'नभ-मयङ्क' कह देने से 'मयङ्क सदृश कार्य करने वाला' इस रूप से मुख की प्रतीति होती है। मयङ्क का और मुख का शुद्ध अभेद (तादात्म्य) यहां प्रतीत नहीं होता। मुख में मयङ्क की अपेक्षा 'अकलङ्कता'

रूप अधिक गुण बताया गया है इसलिये यह 'अधिक ताद्रूप्य रूपक' है।

जस धुज वा धुज ते अधिक, तीन लोक फहरात।
धर्म मित्र बड़ मित्र ते, मरत जियत संग जात॥

(अ० म०)

इत्यादि उदाहरण भी ताद्रूप्य रूपक के हैं।

परिणाम[1]

जहाँ उपमान उपमेय के रूप में ही कार्य करने में समर्थ हो, स्वतन्त्र रूप से नहीं, वहां 'परिणाम' अलङ्कार होता है।

उदाहरण जैसे—

दूरि करहु मम दुरित सब, गौरी के पदकञ्ज।

(का० क० द्रु०)

---

१ करै क्रिया उपमान रचि, उपमेय को स्वरूप।
अलङ्कार परिणाम तहँ, वरणैं कवि-कुल-भूप॥

(अ० म०)

विसयी करै विषय ह्वै काम, अलङ्कार सो है परिणाम।

कवि प्रार्थना करता है कि भगवती पार्वती के पदकञ्ज (चरण कमल) मेरे दुरितों (पापों) को दूर करें।

यहा 'गौरी पद' उपमेय है और 'कञ्ज' (कमल) उपमान है। कमल का सामर्थ्य नहीं है कि वह स्वतन्त्र रूप से प्रार्थयिता के पापों को दूर कर सके। हाँ, गौरी-पद रूप से वह दुरित दूर कर सकता है। इसलिये यहा परिणाम है।

वृद्ध पितामह[1] तृपित लखि, कर-कमलनि सर मार ।
सुरपति-सुत[2] झट भूमि तें, प्रगट कीन्ह जल-धार ॥

(भा० भू०)

यहा 'कर' उपमेय और 'कमल' उपमान हैं। कमल स्वतन्त्र रूप से बाण चलाने में असमर्थ हैं। हाँ, उपमेय 'कर' रूप से कमल बाण चला सकते हैं।

रूपक और परिणाम का भेद

रूपक और परिणाम में यह भेद है कि 'रूपक' में उपमान का अभेद उपमेय में बताया जाता है अर्थात् उपमेय को उपमान समझा जाता है, परन्तु 'परिणाम' में उपमेय का अभेद उपमान में बताया जाता है अर्थात् उपमान में उपमेय बुद्धि की जाती है।

---

१ भीष्म २ अर्जुन।

उल्लेख[1]

जहां एक वस्तु का अनेक तरह से उल्लेख (वर्णन) हो, वहां 'उल्लेख' अलङ्कार होता है।

इसके दो भेद हैं—प्रथम उल्लेख और द्वितीय उल्लेख।

प्रथम उल्लेख

जहां एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न २ दृष्टि से देखी जाय या वर्णित की जाय, वहां प्रथम उल्लेख होता है।

उदाहरण—

गज-रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकान्त।
असुर-तियन ने हरि लखे, रिसियाने नरकान्त[2]॥

कंस के बुलाने पर जब कृष्ण महाराज मथुरा में उस (कंस) के दरबार में पहुँचे उस समय मथुरा की वृद्धा स्त्रियों ने उन्हें भयभीत भक्त गज की रक्षा करने वाला आदि पुरुषोत्तम

---

१ कै बहुतै कै एक जहँ, एक वस्तु को देखि।
बहु विधि करि उल्लेख है, सो उल्लेख उलेखि॥

(भूषण)

२ नरकान्त=नरक+अन्त-नरकासुर को मारने वाला विष्णु।

समझ कर देखा, युवतियों ने उनको चञ्चल लक्ष्मी का भी अत्यन्त प्रिय एक दिव्य युवा समझ कर उत्कण्ठा से देखा और असुरों की स्त्रियों ने उनको नरकान्त—नरकासुर का अन्त करने वाले क्रोधाविष्ट विष्णु समझ कर भयभीत होकर देखा।

यहां एक वस्तु श्रीकृष्ण जी का भिन्न २ दृष्टि से उल्लेख हुआ है, इसलिये यह प्रथम उल्लेख है। दूसरा उदाहरण—

अर्थिन को सुर-तरु दिसत, वैरिन को यमराज।
युवतिन दीसै पुहुपसर, साहितनै सिवराज॥

यहां भी एक वस्तु श्रीशिवा जी को याचकों ने अति दानी होने के कारण कल्पतरु समझा, वैरियों ने अत्यन्त पराक्रमी होने के कारण कालरूप देखा और स्त्रियों ने अत्यन्त सुन्दर होने के कारण कामदेव समझा। प्रथम उदाहरण में कोई दूसरा अलङ्कार मिला हुआ नहीं है, इसलिये वह 'शुद्ध' प्रथम उल्लेख है। द्वितीय में 'रूपक' मिला हुआ है, क्योंकि शिवा जी में सुरतरु आदि का आरोप प्रतीत होता है, इसलिये यह 'सङ्कीर्ण' प्रथम उल्लेख है।

रामचरित मानस की निम्न लिखित चौपाईयां भी प्रथम उल्लेख का उत्तम उदाहरण है—

जिन की रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।
देखहिं भूप महा रणधीरा, मनहु वीर रस धरे शरीरा।

डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी, मनहु भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप वेषा, तिन प्रभु प्रगट काल सम देखा।
पुरवासिन देखे दोउ भाई, नर भूषण लोचन सुखदाई ।
विदुषन प्रभु विराट मय दीसा, बहु मुख कर पग लोचन सीसा।

द्वितीय उल्लेख

यदि एक वस्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा भिन्न २ दृष्टि से देखी जाय या वर्णित की जाय, वहां द्वितीय उल्लेख होता है।

उदाहरण—

पैज[1] प्रतिपाल, भूमिभार को हमाल[2] चहूं,
चक्क[3] को अमाल[4] भयौ दण्डक[5] जहान को ।
साहन को साल भयौ ज्वार को जवाल[6] भयौ,
हर को कृपाल भयौ हार के विधान को ॥
तेरो करवाल वेद पंथन को चाल भयौ,
दच्छिन को ढाल भयौ काल तुरकान को ॥
(भूषण)

---

१ प्रतिज्ञा। २ बोझ उठाने वाला । ३ दिशा । ४ शासक । ५ देशविशेष। ६ विपत्ति।

यहां एक वस्तु शिवाजीके करवाल का एक व्यक्ति श्री भूषण कवि ने नाना रूप से वर्णन किया है। इसलिये द्वितीय उल्लेख है।

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,

सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।

विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,

भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।

हे शरणदायिनी देवि! तू करती सब का मान है,

हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है।

(मैथिलीशरण)

यहां मातृभूमि का भिन्न २ दृष्टि से कई प्रकार उल्लेख हुआ है।

तू रूप है किरन में सौन्दर्य है सुमन मे,

तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में,

तू ज्ञान हिन्दुओं मे, ईमान मुसलिमों में,

तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में॥

(राम नरेश त्रिपाठी)

यहां एक ईश्वर का कवि ने भिन्न २ दृष्टि से अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

प्रथम उल्लेख की तरह द्वितीय उल्लेख के भी 'शुद्ध' और 'सङ्कीर्ण' उदाहरण मिलते हैं। पहले दो उदाहरण' 'शुद्ध' हैं, तीसरा रूपक से सङ्कीर्ण है।

वचन मे गुरु हो पृथु वक्ष मे,

सुयश मे तुम अर्जुन वीर हो।

समर में तुम भीम, महामते!

सबल ही, बल-हीन-दयालु हो॥

यह भी द्वितीय उल्लेख का श्लेष से सङ्कीर्ण उदाहरण है। हे वीर! तुम बोलने में गुरु (महान् पटु-बृहस्पति) हो। वक्ष में—वक्षःस्थल में पृथु (विशाल-पृथु नामक राजा) हो, सुकीर्ति में अर्जुन (शुभ्र-युधिष्ठिर का छोटा भाई) हो और हे महामते! तुम रणभूमि में भीम (भयानक-भीमसेन) हो। इस प्रकार अन्य अलङ्कारों से मिश्रित और भी अनेक उल्लेख के उदाहरण मिल सकते हैं। मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने उल्लेख को पृथक् अलङ्कार नहीं माना है, उन के मत से रूपक में ही इस का अन्तर्भाव हो जाता है।

स्मरण[1]

सदृश वस्तु को देख कर पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति को 'स्मरण' अलंकार कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

तुल्य रूप शिशु देखि यह, अति अद्भुत बल धाम।
मख-रक्षक, शर-चाप-धर, मोहि आवत सुधि राम॥

(का० क० द्रु०)

यह लव को देख कर सुमन्त्र की उक्ति है। सुमन्त्र ने जब अद्भुत बलशाली लव (भगवान् रामचन्द्र के पुत्र) को देखा तब उसे पूर्वानुभूत भगवान् रामचन्द्र का स्मरण हो आया, क्योंकि लव भगवान् राम के सदृश था।

नखतावलि नख, इंदु मुख, तनु दुति-दीप अनूप।
होति निसी नदलाल मन, लखैं तिहारो रूप॥

(मतिराम)

---

१ सदृश वस्तु लखि सदृश की, सुधि आवे जेहि ठौर।
सुमिरन भूषण तेहि कहैं, सकल सुकवि सिर मौर॥

(अ० म०)

यहां गोपी के अनूप रूप को देख कर नन्दलाल जी को रात्रि का स्मरण हो आता है। क्योंकि वह रात्रि के सदृश है। रात्रि में नक्षत्र चमकते हैं तो यहां गोपी के नख चमकते हैं। रात्रि में चन्द्रोदय होता है तो यहा गोपी का मुख ही चाँद है, रात्रि में दीपक बलते हैं तो यहां गोपी का चम चमाता हुआ शरीर ही दीपक है।

हिन्दी-साहित्य के कतिपय आचार्यों का मत है कि सदृश वस्तु को देखने से ही जहां स्मृति हो वहीं स्मरणालङ्कार होता है यह बात नहीं है। किन्तु सदृश असदृश किसी भी वस्तु को देखने सुनने और विचारने से यदि किसी वस्तु की स्मृति हो जाती है तो स्मरणालङ्कार होता है। इसी के अनुसार भगवानदीन जी ने 'स्मरण' का निम्नलिखित लक्षण लिखा है।

"कछु लखि कछु सुनि सोचि कछु, सुधि आवै कछु खास।
सुमिरन ताको भाषिये, बुधवर सहित हुलास ॥"

उदाहरण—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमना के तीर ॥

(बिहारी)

श्री राघवानन्द महापात्र के मत से विरुद्ध (विसदृश) वस्तु के दर्शन से होने वाली स्मृति में भी स्मरणालङ्कार होता है। उदाहरण जैसे—

सिरस कुसुम मृदुगात सिय, जब बन बन भटकात।

सुमिरि सुमिरि तब महल-सुख, चाके प्रभु चिल्लात॥

जब कोमलाङ्गी सीता जी वन वन भटकती थीं, उस समय भगवान् राम उनके प्रासाद-निवास के सुखों को याद कर के दुःखी होते थे। वन वन भटकना और महलों में रहना ये दोनों विरुद्ध बातें हैं। यहां वन में भटकना देख कर महलों के सुख की याद आई है, इसलिये स्मरण है।

भ्रान्ति[1]

सादृश्य के कारण किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु की भ्रान्ति (मिथ्या ज्ञान) को 'भ्रान्ति' अलङ्कार कहते हैं।

---

१ आन बात को आन में, होत जहां भ्रम आय।

तासों भ्रम सब कहत हैं, भूषन सुकवि बनाय॥

(भूषण)

'भ्रान्तिमान्' और 'भ्रम' शब्द से भी इस का व्यवहार होता है। उदाहरण जैसे—

घनरव हरिरव जानि के, मतवारो मृगराइ।
लड़न चल्यौ पाछे फिर्‌यौ, नहिं जब कोई लखाइ॥

(जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, परिवर्तित)

मृगराज सिंह को बादल की गड़गड़ाहट में सादृश्य के कारण दूसरे सिंह की गरज का भ्रम हुआ, इसीलिये वह मुकाबले के लिये दौड़ा। परन्तु जब कोई न मिला तो पीछे लौट गया।

दूसरा उदाहरण—

नील कमल दल श्याम जासु तन सुन्दर सो हैं,
पीताम्बर बसनाभिराम विद्युत मन मोहैं।
भ्रम मे परि घनश्याम के लखि घनश्याम अगार,
नाचि नाचि व्रज धाम के कूकत मोर अपार।
भरे आनन्द मे॥

(कविरत्न सत्यनारायण)

यहां मोरों को घनश्याम में घनश्याम (काले बादलों) का भ्रम हुआ है, इसलिये भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

तीसरा उदाहरण—

किंशुक-मुकुल सु जानि जिय, परत भौंर शुक-तुण्ड।
सोऊ जामन-भ्रान्ति सों, धरन चहत अलि-मुण्ड॥
(का० क० द्रु०)

भौंरे टेसू की कली समझ कर तोते की चोंच पर टूटे पड़ते हैं। और तोता भी भौंरों को जामुन समझ कर उन्हें हथियाना चाहता है, टेसू की कली कुछ लाली लिये हुए टेढ़ी होती है, तोते की चोंच भी ऐसी होती है। इसलिये तोते की चोंच में टेसू का भ्रम रक्तता और वक्रता (लाली और टेढ़ापन) रूप सादृश्य से हुआ है। इसी प्रकार भौंरों मे जामुन का भ्रम कालेपन के कारण हुआ।

चली कामिनी जामिनी, भेंटन नंदकिसोर।
झुके चकोर सुचाँदनी, जानि दामिनी मोर॥
हरि छबि सुधि बुधि हरि लई, वीर भयो यह हाल।
परिरभन लागी करन, जमुना तीर तमाल॥

इत्यादि भी भ्रान्ति के उदाहरण हैं।

रूपक और भ्रान्ति का भेद

रूपक में जान बूझकर एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान

लिया जाता है, परन्तु 'भ्रान्ति' मे वस्तुतः एक वस्तु मैं दूसरी वस्तु का मिथ्या ज्ञान हो जाता है। यही इन दोनों का अन्तर है।

सन्देह

सादृश्य के कारण जहां "यह है कि वह है" इत्यादि सन्देह होता है, वहां 'सन्देह' अलङ्कार होता है।

उदाहरण जैसे—

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है,
कि श्याम घन-मण्डल मे दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक मे कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥
(कवि० नाथूराम शङ्कर)

---

१ कै यह कै वह यों जहाँ, होत भ्रानि संदेह।
भूषन सो संदेह है, या मे नाँहि संदेह॥ (भूषण)

यहां सादृश्य के कारण नायिका की माँग में लेटी हुई 'दीपशिखा' आदि का सन्देह होता है।

चंदकला कै चचला, कै चपे की माल।

कै चामीकर की छरी, सुछवि भरी कै बाल॥

यहां भी नायिका के शरीर में चन्द्रकला आदि का संदेह वर्णित किया गया है।

घनच्युत चपला कै लता ? सशय भयो निहारि।

दीरघ स्वासनि लखि कपी, किय सीता निरधारि॥

(का० क० द्रु०)

अशोक वाटिका में हनूमान् जी ने जब सीता जी को देखा उस समय की यह उक्ति है। पहले हनूमान् जी को संदेह हुआ कि यह बादलों से गिरी हुई बिजली है या कोई लता है ? परन्तु अन्त में दीर्घ निःश्वासों से उन्हें निश्चय हो गया कि यह वियोगिनी सीता है, और कोई नहीं। पहले दो उदाहरणों में केवल सशय है, निश्चय नहीं। इसलिये वे 'शुद्ध सदेह' के उदाहरण हैं। द्वितीय उदाहरण में अन्त में निश्चय हो गया है, इसलिये वह निश्चयान्त सदेह' है। इसी प्रकार 'निश्चय गर्भ-सदेह' भी होता है, जहां मध्य में तो निश्चय होता है, परन्तु अन्त में निश्चय नहीं होता।

उदाहरण जैसे—

कैधों यह रमा छीर सागर से उपजी न,

कैधों यह गिरिजा न गिरि ते जनम है।

यहां 'रमा' और 'गिरिजा' का संदेह तो हुआ परन्तु क्षीरसागर से पैदा नहीं हुई इसलिये रमा नहीं हो सकती। गिरि से नहीं जन्मी इसलिये गिरिजा भी नहीं हो सकती,' इत्यादि कथन से 'रमा' और 'गिरिजा' होने का संदेह दूर हो गया। यदि 'रमा और गिरिजा' नहीं है तो क्या है—यह सन्देह अन्त में फिर भी बना ही रहा। इसलिये यह अनिश्चयान्त 'निश्चयगर्भ संदेह' है। पूर्व उदाहरणों में संशय का हेतु सादृश्य आदि स्वयं कल्पना करना पड़ता है, परन्तु कहीं २ संशय का हेतु शब्द द्वारा बता दिया जाता है।

उदाहरण जैसे—

विषमय किधौं पियूषमय, तेरी मृदु मुस्क्यानि।

यहै मूरछित करति है, यहै जियावति आनि॥

यहां संदेह का हेतु मूर्च्छित करना और जिलाना शब्द द्वारा बता दिया गया है।

अपह्नुति

अपह्नुति शब्द का अर्थ है छिपाना। जहां असली वस्तु (उपमेय) को छिपाकर उसके स्थान में किसी दूसरी वस्तु (उपमान) का नाम लिया जाय, वहां 'अपह्नुति' अलङ्कार होता है।

इस के छः भेद हैं—शुद्धापह्नुति, हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति और कैतवापह्नुति। पहली पांच अपह्नुतियों में 'न' 'ना' आदि शब्दों से स्पष्ट रूप से वस्तु का निषेध होता है, और अन्तिम कैतवापह्नुति में मिस, व्याज आदि शब्दों से। प्रत्येक अपह्नुति का लक्षण और उदाहरण नीचे क्रमशः दिए जाते हैं।

---

१ मिथ्या कीजै सत्य को, सत्य जु मिथ्या होत।
अपह्नुति षट भेद को, बरनत है कवि गोत॥
शुद्ध, हेतु, परजस्त, भ्रम, छेका, कैतव देखि।
ना वाचक है पाच को, कैतव को मिस लेखि॥

(अ० म०)

शुद्धापह्नुति

जहां उपमेय को असत्य ठहरा कर उपमान की स्थापना की जाय, वहाँ 'शुद्धापह्नुति' होती है।

उदाहरण जैसे—

नहिं सखि ! राधा वदन यह, है पूनो को चॉद ।

यहां 'राधावदन' उपमेय को असत्य ठहरा कर, उपमान 'पूनो के चाँद' की स्थापना की गई है, इसलिये शुद्धापह्नुति है।

आली तो कुच सैल तैं, नाभि कुण्ड को जाय ।

रोमाली न, सिंगार की, परनाली दरसाय ॥

(रा० स०)

---

१ आन बात आरोपिये, साची बात दुराय ।
शुद्धापह्नुति कहत हैं, भूषण कवि सु बनाय ॥

(भूषण)

२ संस्कृतसाहित्य के आचार्य अप्पय दीक्षित जी के मतानुसार शुद्धापह्नुति का लक्षण यों है—जहां वर्णनीय वस्तु में तत्सदृश वस्तु का आरोप करने के लिये उस (वर्णनीय) के अपने धर्म को छिपाया जाय, वहां शुद्धापह्नुति होती है ।

यहा भी रोमावली का निषेध करके उसे सिंगार की परनाली बताया है। इसी प्रकार—

नहिं यह नाभी रावरी, सुनि प्यारी बृजनाह।
विधि रचि बिमल खरी करी, परी चिबुक की छाँह॥

(रा० स०)

इत्यादि शुद्धापह्नुति के उदाहरण है।

हेत्वपह्नुति

शुद्धापह्नुति में यदि कोई हेतु भी दे दिया जाय तो उसे 'हेत्वपह्नुति' कहते हैं।

उदाहरण—

सिव सरजा के कर लसै, सो न होय किरवान।
भुज-भुजगेस-भुजंगिनी, भखति पौन अरि-प्रान॥

(भूषण)

शिवा जी के हाथ में तलवार नहीं है, किन्तु वह तो भुजा रूपी शेषनाग की (पत्नी) सर्पिणी है। क्योंकि वह शत्रुओं के प्राणवायु को भक्षण करती है। सर्प हवा खाकर जीते हैं

---

1 शुद्धापह्नुति में जहा, कहिये हेतु बनाय।
हेतु अपह्नुति कहत हैं, ताहि सकल कविराय॥

(अ० म०)

ऐसी लोक प्रसिद्धि है, इसीलिये सर्प का पवनाशन–पवन खाने वाला–नाम भी कोशों में दिया गया है। यहां 'किरवान' न होने में 'भखति पौन अरि प्रान' यह हेतु बताया गया है। तलवार तो जड़पदार्थ है, वह वायु भक्षण नहीं कर सकती। यदि यह हेतु न दिया जाता, केवल यही कहा जाता कि यह तलवार नहीं, किन्तु सर्पिणी है तो यहां शुद्धापह्नुति होती।

> सौतिन के दृगदीप नहिं, जा समीप ठहराहिँ।
> नाग लली ही है अली, रोमवली यह नाहिँ॥
>
> (रा० स०)

काले सांप के आगे दिया नहीं ठहरता ऐसी लोक प्रसिद्धि है। यहां भी नायिका की रोमावली के आगे उसकी सौतों के नेत्र-दीप नहीं ठहरते, इसलिये यह रोमावली नहीं है किन्तु नागलली–सर्पिणी है। उत्तरार्ध में अपह्नुति का हेतु बताया है, इसलिये यह भी हेत्वपह्नुति है।

पर्यस्तापह्नुति

जहां किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी (वर्णनीय)

---

१ धर्म और मे राखिये, धर्मी सांच छिपाय।
पर्यस्तापह्नुति कहत, ताहि सकल कविराय॥

(अ० म०)

वस्तु में उस का (धर्मका) आरोप करने के लिये किया गया हो, वहां 'पर्यस्तापह्नुति' होती है

उदाहरण जैसे—

नहिं मयङ्क यह सखि ! सुनो, राधा-वदन मयङ्क ।

यहां 'राधावदन' में मयङ्कता का आरोप करने के लिये मयङ्क के अपने धर्म मयङ्कता का निषेध किया गया है, इसलिये पर्यस्तापह्नुति है ।

प्राचीन आचार्यों ने पर्यस्तापह्नुति को 'दृढारोप रूपक' माना है । क्योंकि यहा 'राधावदन' में मयङ्क का आरोप है और उस आरोप को मयङ्क में मयङ्कता का निषेध करके दृढ किया गया है ।

हालाहल विष नहि, रमा विष है यह सच बात ।
हालाहल पिय हर जगैं, या संग हरि निदरात ॥

यहां भी रमा–लक्ष्मी में विषता का आरोप करने के लिये हालाहल में उस (विषता) का अपह्नव (निषेध) किया

---

१ वस्तु गोय ताको धरम, आन वस्तु में रोपि ।
पर्यस्तापह्नुति कहत, कवि भूषन मति वोपि ॥

(भूषण)

गया है, इसलिये पर्यस्तापह्नुति है। पहले उदाहरण में हेतु नहीं दिया गया है, दूसरे में हलाहल के विष न होने मे और रमा के विष होने में हेतु भी दिया गया है। इस प्रकार पर्यस्तापह्नुति के भी 'निर्हेतुक' और 'सहेतुक' ये दो भेद हो सकते हैं।

भ्रान्तापह्नुति

जहां किसी कारण पैदा हुए भ्रम का सत्य कथन द्वारा निषेध किया जाय, वहां भ्रान्तापह्नुति होती है।

उदाहरण जैसे—

वेसरि मोती दुति झलक, परी ओठ पर आइ।
चूनो होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यों जाइ॥

(विहारी)

---

१ संक आन को होत ही, जहं भ्रम कीजे दूरि।
भ्रान्तापह्नुति कहत हैं, तहँ भूषन कवि भूरि॥

(भूषण)

वच सों पर को भ्रम नसै, भ्रान्ति अपह्नुति जान।
दहत प्राण तन, विष कहा, नाँहि सखि विरह कृसान॥

(पद्माभरण)

नायिका ने नाक में बुलाक पहनी हुई है, उस मे मोती जड़ा हुआ है। मोती की झलक अधर पर पड़ रही है। जब वह अपना मुख दर्पण में देखती है तो वह होंठ पर पड़ी हुई झलक को चूना समझ लेती है और बार २ उसे वस्त्र से पोंछती है, परन्तु वह मिटता नहीं। क्योंकि वह चूना तो है नहीं जो मिट जाय। उस की सखी उसे सच बात बताकर उस का भ्रम दूर कर देती है—'यह चूना नहीं है, यह तो मोती की झलक है। बार २ वस्त्र से क्यों पोंछ रही हो।'

दूसरा उदाहरण—

> चन्द्र है न, सिर तिलक यह, व्याल न, मुकता हार।
>
> भसम न, तन चन्दन लग्यो, मार ! न तू मुहि मार॥
>
> (का० क० द्रु०)

हे काम देव! तू मुझे क्यों मारता है। मैं शिव नहीं हूं। मेरे सिर पर यह चॉंद नहीं है, यह तो तिलक है। गले में सॉंप नहीं है, मोतियों का हार है। शरीर पर भस्म नहीं है, किन्तु चन्दन पोता हुआ है। यहां भी चन्द्र आदि के कारण कामदेव को 'शिव' का भ्रम हो गया था, उसे सत्य कथन के द्वारा दूर किया गया है।

दण्डी ने भ्रान्तापह्नुति को 'तत्त्वाख्यानोपमा' नामक

उपमा का ही एक विशेष भेद माना है। क्योंकि यहां तत्त्व (सत्यवस्तु) का आख्यान (कथन) होता है।

छेकापह्नुति[1]

जहां चतुरता से सत्य को छिपाकर दूसरे के सन्देह को दूर किया जाता है, वहां 'छेकापह्नुति' होती है।

सोभा सदा बढ़ावन हारा, ऑखिन ते छिन करूँ न न्यारा।
आठ पहर मेरा मन रञ्जन, क्यों सखि साजन? ना सखि अंजन॥

कोई नायिका अपने प्रियतम को याद कर रही है और कह रही है कि वह सदा शोभा को बढ़ाने वाला है, आठों पहर मेरे मन को प्रसन्न रखता है। मैं उसे क्षण भर के लिये भी अपनी ऑखों से दूर नहीं होने देती। इस पर उसकी सखी ने पूछा—ऐसा कौन है? क्या तुम्हारा प्रियतम है? तब नायिका ने चतुरता से सत्य बात को छिपा कर उत्तर दिया—हे सखी! प्रियतम नहीं, किन्तु आंखों का अंजन।

यहां 'सोभा सदा बढ़ावन हारा' इत्यादि विशेषण 'प्रियतम' और 'अञ्जन' दोनों ओर लगते हैं। खुसरो-की 'कहमुकरियां' छेकापह्नुति के उत्तम उदाहरण हैं।

---

१ शङ्का नासै और की, सांची बात दुराय।
छेकापह्नुति कहत हैं, ताहि कविन के राय॥ (अ० म०)

आँखें अति शीतल भई, दीन्हों ताप निवारि ।

क्यों सखि ! पीतम को लखै, ना सखि ससिहिं निहारि ॥

यहां भी सखी को 'क्या प्रियतम के देखने से आँखें ठण्डी हुईं' यह सन्देह हुआ था, उसे 'ससिहिं निहारि' ऐसा कहकर दूर कर दिया और सच्ची बात को छिपा लिया । और भी—

पर गुण को गाते रहते हैं, दोष किसी का नहिं कहते हैं ।

निजकुलको करते मडित हैं, क्यों सखि सुरगण?नहिं सखि पडित ॥

ओठ खडिबे को अरथो, मुख सुवास रस मत्त ।

श्याम रूप नँदलाल अलि ? नहिं अलि ? अलि उन्मत्त ॥

भ्रान्तापह्नुति और छेकापह्नुति का भेद

भ्रान्तापह्नुति में सच बात कह कर दूसरे का भ्रम दूर किया जाता है । छेकापह्नुति में सच बात छिपा कर दूसरे का सन्देह दूर किया जाता है ।

कैतवापह्नुति[1]

जहां छल, व्याज, मिस अदि शब्दों से किसी वस्तु का अपह्नव (निषेध) किया जाय, वहां 'कैतवापह्नुति' होती है ।

---

1 जहँ केतव छल व्याज मिसि, इनसों होत दुराव ।
कैतवपह्नुति ताहि सों, भूषन कहि सति भाव ॥

(भूषण)

उदाहरण जैसे—

छनपरभा के छल रही, चमक मार-करवार[1] ।

वीरवधू के व्याज री, दहकत आज अंगार ॥

यहां 'छल' पद से छनपरभा-विजली-का और 'व्याज' पद से वीरवधू-वीरवहूटी-का निषेध किया गया है ।

बजत बीन ढप बाँसुरी, रह्यो छाय रस राग ।

मिस गुलाब के तियन पै, पिय बरसत अनुराग ॥

यहां 'मिस' शब्द से गुलाब का अपह्नव करके उसे प्रिय का अनुराग बताया गया है ।

सुपक्क पीले फलपुञ्ज-व्याज से,

अनेक बालेन्दु स्वअङ्क में उगा ।

उड़ा दलों व्याज हरी हरी ध्वजा,

नितान्त कैला कल-केलि-मग्न था ॥

यह फूले फले झूमते हुए केले के वृक्ष का वर्णन है । यहां 'व्याज' शब्द से फल-पुञ्ज का अपह्नव करके उनमें बालेन्दु (द्वितीया के चांद) का आरोप किया गया है । इसी प्रकार 'व्याज' शब्द से ही पत्तों का निषेध करके उन में ध्वजा का

1 मारकरवार (मार-करवाल) कामदेव की तलवार ।

आरोप किया है—अर्थात् ये केले नहीं हैं किन्तु कदली की गोद में बालेन्दु उगे हुए हैं। ये केले के पत्ते नहीं हैं किन्तु हरी हरी ध्वजाएं हैं। केला ज़रा टेढ़ा होता है, यही टेढ़ापन उस (केले) में बालेन्दु (दोज के चाद) के आरोप का कारण है। इसी प्रकार केलें के पत्ते खूब लम्बे चौड़े होते हैं और हवा में फड़ फड़ाया करते हैं, यही उन में ध्वजा के आरोप का कारण है।

उत्प्रेक्षा

प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[1]

जो वर्णनीय हो या जिस के वर्णन का प्रसङ्ग हो, उसे प्रस्तुत कहते हैं। जो अवर्णनीय है या जिस के वर्णन का प्रसङ्ग नहीं है, उसे अप्रस्तुत कहते हैं। 'संभावना' शब्द का अर्थ है—अनिश्चयात्मक कल्पना।

उदाहरण—

लखियत राधा वदन मनु, विमल सरद राकेस।

---

१. आन बात को आन मैं, जहँ सभावन होय।
वस्तु हेतु फलयुत कहत, उत्प्रेक्षा है सोय॥ (भूषण)

यहां 'राधावदन' प्रस्तुत है, क्योंकि उसी के वर्णन का प्रसङ्ग है। राकेश-चन्द्रमा अप्रस्तुत है, क्योंकि उस के वर्णन का प्रसङ्ग नहीं है। प्रस्तुत राधावदन में अप्रस्तुत चन्द्रमा की अनिश्चयात्मक कल्पना की गई है। 'मनु' पद अनिश्चयात्मक कल्पना (संभावना) का बोधक है।

उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। वस्तूत्प्रेक्षा का दूसरा नाम स्वरूपोत्प्रेक्षा भी है।

वस्तूत्प्रेक्षा

जहां किसी वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के स्वरूप की संभावना की जाय, उसे वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं।

उदाहरण—

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात॥

(विहारी)

यहां पीताम्बर धारी भगवान् कृष्ण के श्याम शरीर में प्रातःकाल के पीत आतप (घाम) से सुशोभित नीलमणि पर्वत के स्वरूप की संभावना की गई है। पद्य में 'मनो' यह पद संभावना (अनिश्चयात्मक कल्पना) का बोधक है।

यहां यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि 'नीलमणि शैल' का भगवान् कृष्ण के श्याम शरीर के साथ सादृश्य

होने से 'उपमा' अलङ्कार ही क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है । 'उपमा' वहीं होती है, जहा किसी प्रसिद्ध उपमान का सादृश्य उपमेय में वताया जाय। यहां 'नील-मणि सैल' अप्रसिद्ध उपमान है । मट्टी पत्थर के शैल प्रसिद्ध हैं न कि मणियों के । इसलिये यहां उपमा नहीं, उत्प्रेक्षा ही है ।

यह वस्तूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की है—उक्तविषया और अनुक्तविषया । जहां विषय उक्त हो—कह दिया गया हो वहां उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होती है । जिस वस्तु में संभावना या उत्प्रेक्षा की गई है, वह वस्तु उत्प्रेक्षा का विषय कहलाती है । पहले दोनों उदाहरण उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के हैं। प्रथम उदाहरण में 'राधावदन' और दूसरे में 'पीताम्बर-धारी श्रीकृष्ण जी का शरीर' विषय हैं । दोनों पद्य में कह दिये गए हैं । जहां विषय शब्द द्वारा न वताया गया हो, वहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

लता भवन ते प्रगट भे, तेहि औसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु युग विमल विधु, जलद पटल विलगाइ ॥

(राम० मान०)

सखि सोहति गोपाल के, उर गुजन की माल ।
बाहर लसति मनौ पिये, दावानल की ज्वाल ॥

(विहारी)

इत्यादि भी उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के उदाहरण हैं।

अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

उदाहरण—

बरसै जनु काजल गगन, तम लिपटत सब गात।
दीठि नीच सेवा सरिस, विफल भई सी जात॥

यह अंधेरी रात का वर्णन है। घोर अन्धकार सब जगह फ़ैल रहा है और सब को व्याप्त कर रहा है। कवि ने अन्धकार के 'फैलने' और 'व्याप्त करने' में 'काजल बरसाने' की और 'अङ्गों के लीपने' की संभावना की है। अन्धकार का 'फैलना' और व्यापन करना यहां विषय है। वह शब्द द्वारा नहीं बताया गया है, इसलिये यह अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

दूसरा उदाहरण—

उदित सुधाकर करत जनु, सुधामयी वसुधा हि।

चन्द्रोदय होने पर चाँदनी सब जगह व्याप्त हो जाती है, जिस से सर्वत्र श्वेत ही श्वेत नज़र आता है। क्योंकि चन्द्रमा स्वयं सुधाकर-सुधा का आकर-है, इसलिये मानो उसने तमाम पृथ्वी को ही सुधामय बना दिया है—सुधा से पोत

---

१ सुधा शब्द का अर्थ अमृत भी है और कली भी—जिस से मकानों में सफेदी की जाती है।

दिया है। 'चांदनी का सब जगह व्याप्त होना' यहां उत्प्रेक्षा का विषय है और वह अनुक्त है। इसलिये यह भी अनुक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की संभावना को हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

अरुण भये कोमल चरण, भुवि चलिवे तैं मानु।

(भाषा भूषण)

सुकुमार नायिका के चरण में स्वभावतः या यावक रस लगाने के कारण ललाई है, परन्तु कवि ने—पृथ्वी पर चलने से यह ललाई आई है ऐसी संभावना की। वास्तव में 'पृथ्वी पर चलना' यहां ललाई का हेतु नहीं है। केवल सौकुमार्य का अतिशय बताने के लिये ही कवि ने यहा अहेतु में हेतु की कल्पना की है।

हेतूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की होती है—सिद्धास्पदा और असिद्धास्पदा। जहा उत्प्रेक्षा का आस्पद—आधार—या विषय सिद्ध (संभव) हो, वहां सिद्धास्पदा और जहां असिद्ध (असंभव) हो, वहां असिद्धास्पदा।

पूर्वोक्त उदाहरण में 'पृथ्वी पर चलना' उत्प्रेक्षा का आधार या विषय है और वह सिद्ध है-संभव है, इसलिये वहां सिद्धास्पदा उत्प्रेक्षा है। दूसरा उदाहरण—

रवि अभाव लखि रैन मे, दिन लखि चन्द्र विहीन।
सतत उदित इहि हेत जनु, यश प्रताप भुवि कीन ॥

(का० क० द्रु०)

यह किसी राजा के यश और प्रताप का वर्णन है। रात्रि में सूर्य का अभाव होता है और दिन में चन्द्रमा का। मानो इसी कारण राजा ने सदा (रात दिन) उदित रहने वाले अपने 'प्रताप' और 'यश' को उत्पन्न किया।

यहां रात्रि में सूर्य का और दिन में चन्द्रमा का अभाव निरन्तर उदित रहने वाले प्रताप और यश के उत्पादन में हेतु नहीं, है परन्तु उस (अभाव) में कवि ने हेतुत्व की सभावना की है अर्थात् उसको हेतु मान लिया है, इसलिये यह हेतूत्प्रेक्षा है। 'रात्रि में रवि का और दिन में चन्द्रमा का अभाव' उत्प्रेक्षा का आधार (आस्पद) है और वह सिद्धहै, इसलिये यह भी सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा

असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा

उदाहरण जैसे—

तुव चख निरखि लजाय मनु, किय वन वास मृगीन।
कुवलय रहत मलीन दिन, रहै पैठि जल मीन ॥

यह नायिका के नेत्रों का वर्णन है । नेत्र इतने सुन्दर हैं कि मानो उन से लज्जित होकर ही मृगिया वन में रहने लगीं, कुवलय दिन में म्लान रहने लगे और मछलियां पानी में जाकर छिप गईं ।

यद्यपि मृगियों का वन में और मछलियों का पानी में रहना स्वाभाविक है, इसी तरह कुवलय (कुमुद पुष्प) का दिन में मलिन रहना (न खिलना) भी स्वभाव सिद्ध है, तथापि कवि ने नेत्रों में सौन्दर्य की अधिकता बताने के लिये 'लज्जा' में वनवास आदि के हेतुत्व की उत्प्रेक्षा की है। यहा उत्प्रेक्षा का आस्पद (आधार) मृगी आदि की लज्जा है, परन्तु वह असिद्ध (असम्भव) है । क्योंकि मृगी आदि को नायिका के नेत्रों को देख कर वस्तुत' कोई लज्जा नहीं होती। वह तो कवि की अपनी कल्पना है। ऐसे उदाहरणों में हेतूत्प्रेक्षा 'असिद्धास्पदा' कहलाती है।

फलोत्प्रेक्षा

अफल में फल की उत्प्रेक्षा (संभावना) को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं। उदाहरण जैसे—

मधुप निकारन के लिये, मानो रुके निहारि ।
दिनकर निजकर देत है, सतदल-दलनि उघारि ॥

सूर्योदय का वर्णन है। रात्रि में कमल मुकुलित हो जाते हैं और सूर्योदय होने पर फिर खिल जाते हैं, यह बात नैसर्गिक है। यहां कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानो रात भर कमलों के अन्दर बंद हुए भौंरों को बाहर निकालने के लिये ही सूर्य अपने करों (हाथों-किरणों) से उन (कमलों) की पंखड़ियों को उघाड़ (खोल) देता है। यहां 'फंसे हुए भौंरों को बाहर निकालना' ही कमलों को विकसित करने का फल बताया गया है। वस्तुतः वह फल नहीं है, क्योंकि सूर्य से कमलों का खिलना स्वाभाविक है, न कि भौंरों को बाहर निकालने के लिये है। इसलिये यहां अफल में फल की संभावना होने से फलोत्प्रेक्षा है।

फलोत्प्रेक्षा भी सिद्धास्पदा और असिद्धास्पदा भेद से दो तरह की है। पूर्वोक्त उदाहरण में भौंरों का बाहर निकलना यह उत्प्रेक्षा का आधार है और वह सिद्ध है। इसलिये यह 'सिद्धास्पदा' फलोत्प्रेक्षा है।

द्वितीय उदाहरण—

मानहुं इहि अभिलाष लौं, चिनगी चुगत चकोर।
राधा-मुख-ससि-चख[1] बन्यौ, रहौ लहौ चितचोरै[2]॥

(भा० भू०)

---

१ राधा के मुख रूपी चन्द्रमा का नेत्र। २ चित्त को हरण करने वाला राधा का मुखचन्द्र।

चकोर का 'आग की चिनगियां चुगना' और 'चन्द्रमा से प्रेम' स्वाभाविक है। परन्तु कवि ने यहां उत्प्रेक्षा की है कि मानो चकोर इस इच्छा से आग की चिनगारिया चुगता है कि मुझे मेरे प्रिय चन्द्रमा का सहवास मिले। मैं इस कठिन तपस्या से किसी तरह राधा के मुखचन्द्र का नेत्र बन जाऊँ जिससे मैं सदा उसके साथ रहूं, मेरा उससे कभी वियोग न हो। यहा भी 'चन्द्र संयोग' चिनगिया चुगने का फल नहीं है, किन्तु उस में फलत्व की सभावना की गई है। चकोर पत्ती की ऐसी इच्छा करना असिद्ध है, इस लिये यह 'असिद्धास्पद' फलोत्प्रेक्षा है।

इन तीनों उत्प्रेक्षाओं में प्रत्येक के फिर दो दो भेद होते हैं। वाच्योत्प्रेक्षा और लुप्तोत्प्रेक्षा।

वाच्योत्प्रेक्षा

वाच्योत्प्रेक्षा उसे कहते हैं जहां उत्प्रेक्षावाचक शब्द विद्यमान हो। मनु, जनु, मानहुँ, मानो, निश्चै, इव आदि शब्द उत्प्रेक्षावाचक हैं। ऊपर बताए हुए सब उदाहरण वाच्योत्प्रेक्षा के हैं।

लुप्तोत्प्रेक्षा

जहां उत्प्रेक्षावाचक शब्द कोई न हो, उसे लुप्तोत्प्रेक्षा कहते हैं। इसको 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' और 'गम्योत्प्रेक्षा' भी कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

श्रीमुख पर लिय झलक अस लस घुंघरारे।
रहे घेरि नव कञ्ज मधुप सौरभ मतवारे॥

नायिका के मुखमण्डल पर काले घुंघराले केशों की लट ऐसी प्रतीत हो रही है मानो ताज़े खिले हुए कमल को सुगन्ध से उन्मत्त भौंरे घेरे हुए हों।

यहां अलकावली-सहित मुख मण्डल में भ्रमर-सहित कमल की संभावना की गई है। संभावनावाचक शब्द न होने से यह गम्या वस्तूत्प्रेक्षा है।

दूसरा उदाहरण—

कुल-कपूत-करनी निरखि, धरनी के उर दाह।
धधकि उठत सोई कबहुं, ज्वालागिरि की राह॥

(जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

ज्वालामुखी पर्वत से अग्नि की ज्वालाएँ स्वभावतः निकला करती हैं। ये ज्वालाएं मानो कुपुत्र की कुकरनियों को देख कर दुःखित पृथ्वी के हृदय की आग की ज्वालाएं हैं, जो कभी २ धधक उठती हैं।

यहां 'कुल-कपूत-करनी' में हेतुत्व की संभावना होने से हेतूत्प्रेक्षा है। वाचक न होने से 'लुप्ता' है।

तिमिर-हरन दुतिमन्त, करन-फूल कंचन-रचित ।
ग्रीषम-छाया-कन्त, ससि सेवत सियरान हित ॥

यह राधा जी के कर्णफूल का वर्णन है। कर्णफूल सोने का बना हुआ है, चमकदार है, अंधेरे में भी उजाला कर देता है, मानो ग्रीष्म ऋतु का छाया-कन्त-छायापति-सूरज ठण्डक पाने के लिये राधा जी के मुखचन्द्र का सेवन कर रहा है। यहां 'ठण्डक प्राप्ति' को फल बताया है, वस्तुतः वह फल नहीं है, इसलिये अफल में फल की कल्पना करने से फलोत्प्रेक्षा है, मनु जनु आदि वाचक न होने से 'लुप्ता' है।

सापह्नवोत्प्रेक्षा

जहां प्रकृत (उपमेय) का निषेध कर के अप्रकृत (उपमान) की संभावना की जाय, उसे 'सापह्नवोत्प्रेक्षा' अपह्नुति सहित उत्प्रेक्षा कहते हैं

नाहिन ये पावक-प्रबल, लुऐं चलत चहुँ पास ।
मानहुँ विरह वसत के, ग्रीषम लेत उसास ॥

(विहारी)

चारों ओर अग्नि के समान प्रखर लुऐं चल रही

---

1 सूर्य की स्त्री का नाम 'छाया' है।

हैं, परन्तु उन्हें लुएँ न बताकर उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो ग्रीष्म ऋतु वसन्त के वियोग में उष्ण उच्छ्वास ले रहा है। यहां 'नाहिन' पद से प्रकृत का निषेध किया गया है, इसलिये सापह्नवोत्प्रेक्षा है।

दूसरा उदाहरण—

सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृगजल-मिस मानहुँ निकरि, वही विरह की धार॥

(सत्यनारायण)

यहां भी सापह्नवोत्प्रेक्षा है। प्रथम उदाहरण में शुद्धापह्नुति है, यहा कैतवापह्नुति है—इतना भेद है।

उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् का भेद

'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार में उत्प्रेक्षा करने वाले पुरुष को, जिस वस्तु में उत्प्रेक्षा की जानी है उसका, यथार्थ ज्ञान रहता है। इसके विपरीत 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में द्रष्टा को वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता।

उत्प्रे ा और सन्देह का भेद

यद्यपि उत्प्रेक्षा और सन्देह दोनों में ज्ञान अनिश्चयात्मक ही होता है, तथापि उत्प्रेक्षा में अनिश्चय ज्ञान आहार्य (द्रष्टा के द्वारा कल्पित) होता है और सन्देह में वास्तव में अनिश्चय होता है।

यह चन्द्रमा है' इस उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षणीय चन्द्रमा ही प्रधान है। 'यह मुख है या चन्द्रमा' इस सन्देह में मुख और चन्द्रमा दोनों प्रधान हैं।

अतिशयोक्ति

किसी वस्तु का बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करना ही 'अतिशयोक्ति' है। इसके छः भेद हैं—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति।[1]

रूपकातिशयोक्ति[2]

जहां उपमान उपमेय को अपने स्वरूप में निगीर्ण

---

१ जहँ अत्यन्त सराहिवो, अतिशयोक्ति सु कहन्त।
रूप, भेद, सबन्ध अरु, अक्रम, चपल, अत्यन्त॥

(अ० म०, परिवर्तित)

२ रूपक अतिशयोक्ति तहँ, जहँ केवल उपमान।
कनकलता पर चन्द्रमा, धरै धनुप द्वै बान॥

(भाषा भूषण)

(हज़म) कर ले अर्थात् जहां केवल उपमान का ही नाम लिया जाय उपमेय का ग्रहण न हो, उसे 'रूपकातिशयोक्ति' कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

स्थित यमुना तट हरत नित, पथिक गतागत पीर।
कनकलतायुत हरहु वह, तरु तमाल भवभीर॥

(का० क० द्रु०)

यहां राधा सहित भगवान् कृष्ण उपमेय हैं, परन्तु उनकी यहां कोई चर्चा नहीं है। कनकलता सहित तमाल (आवनूस) का वृक्ष उपमान है, उसी का यहां वर्णन है। भगवान् कृष्ण का और तमाल वृक्ष का श्याम वर्ण होने से, राधा जी और कनकलता का पीतवर्ण होने से परस्पर सादृश्य है। इसको रूपकातिशयोक्ति इसलिये कहा गया है कि जैसे रूपक में उपमान उपमेय का अभेद होता है वैसे ही यहां भी है। भेद केवल इतना सा है कि रूपक में उपमान के साथ उपमेय भी शब्द के द्वारा बता दिया जाता है, अतिशयोक्ति में केवल उपमान का ही ग्रहण होता है।

यही अतिशयोक्ति जब अपह्नुति सहित होती है तब इसे 'सापह्नवातिशयोक्ति' कहते हैं—

उदाहरण—

मूढ इन्दु अरविंद मैं, कहत सुधा-मधु-वास ।

तो मुख मंजुल अधर मैं, तिनकौ प्रगट प्रकास ॥

(मतिराम)

तुम्हारे मुख का सौन्दर्य ही सुधा है और तुम्हारे 'अधर' का रस ही 'मधु' है। चन्द्र में 'सुधा' और अरविन्द में 'मधु' तो बेवकूफ बताते हैं-अर्थात् वहा तो अमृत और मधु हैं हीं नहीं। यहां नायिका के मुख का 'सौन्दर्य' और अधरोष्ठ का 'रस' उपमेय हैं । 'सुधा' और 'मधु' उपमान हैं। केवल उपमान का ग्रहण होने से अतिशयोक्ति है। पूर्वार्ध में चन्द्रस्थ सुधा का और कमलस्थ मधु का निषेध किया है, इसलिये सापह्नवातिशयोक्ति है। इसी प्रकार—

'अहि ससि-मण्डल पै बसे, जिय पताल जनि जान ।'

यहां भी सापह्नवातिशयोक्ति है। 'ससिमण्डल' और 'अहि'

---

१ सापह्नव गुन और के, औरहिं पर ठहराय ।

सुधा भरयो यह बदन तुव, चन्द कहै बौराय ॥

(भाषा भूषण)

रूप उपमानों का ही यहां ग्रहण है। उपमेय 'मुख' और 'वेणी' (गुथे हुए केश) का ग्रहण नहीं है, 'जनि जान' पद से निषेध किया है।

भेदकातिशयोक्ति[1]

जहां वस्तुतः उपमेय (वर्णनीय) में कोई भेद-अनोखापन न हो परन्तु 'अन्य' 'औरै' आदि पदों से उसमें भेद-अनोखापन बताया जाय, वहां भेदकातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण—

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देति हैं, सकै न वैन बखानि॥

(मतिराम)

यहां यद्यपि नायिका के चितवनि, चलनि और मुसकानि और उनसे होने वाला सुख वही हैं, जो लोक में प्रसिद्ध हैं। परन्तु कवि ने उनमें 'औरै' पद के द्वारा लोक-प्रसिद्ध

---

१ जो भेद और पदनि सों जा ठौर वरनन कीजिये,
तब भेदकातिशयोक्ति नीके समुझि मन तुम लीजिये।

(अलङ्कारदर्पण)

'चितवनि' आदि से भेद-अनोखापन बताया है, इसलिये यह भेदकातिशयोक्ति है।

और तौर आभा अमल, भूषन औरै तौर।
रची विधाता पै न कहु, वार वधू सी और॥

(वि० स०)

औरै मन औरै विपिन, औरै पौन विसेखि।
औरै ना औरै कछू, औरै औरै देखि॥

(वि० स०)

इत्यादि उदाहरण भी भेदकातिशयोक्ति के हैं।

सम्बन्धातिशयोक्ति

जहां असम्बन्ध में सम्बन्ध, और सम्बन्ध में असम्बन्ध बताया जाय, उसे सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

---

१ सम्बन्धातिशयोक्ति जहँ, देत अजोग हि जोग।
या पुर के मन्दिर कहैं, ससि लौं ऊँचे लोग॥

(भाषाभूषण)

अतिशयोक्ति दूजी वहै, जोग अजोग बखान।
तो कर आगे कल्पतरु, क्यों पावे सम्मान॥

(भाषाभूषण)

उदाहरण जैसे—

मैं बरजी कै बार तूं, इत कित लेति करौट।
पॅखुरी लगैं गुलाब की, परि है गात खरौट ॥

(विहारी)

यहां गुलाब की पंखड़ी लगने से खरौट (घाव) पड़ने का कोई सम्बन्ध नहीं है, पर अत्यन्त कोमलता दिखाने के लिये सम्बन्ध बताया गया है, इसलिये सम्बन्धातिशयोक्ति है।

फबि फहरैं अति उच्च निसाना, जिनमहँ अटकत विबुध विमाना।

यहां भी यद्यपि ध्वजाओं के साथ देव-विमानों के उलझने का कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी बताया गया है, इस लिये सम्बन्धातिशयोक्ति है।

सम्बन्ध में असम्बन्ध का उदाहरण जैसे—

अति सुन्दर लखि मुख सिय तेरो, आदर हम न करत ससि केरो।

यहां यद्यपि चन्द्रमा के साथ आदर का सम्बन्ध है, तथापि असम्बन्ध वताया गया है। इसी प्रकार—

कोटिहु वरन नहिं बनै बरनत जग जननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मन्दमति तुलसी कहा॥

यहां भी करोड़ों मुखों का वर्णन के साथ और श्रुति, शेष-

नाग और शारदा का कथन के साथ सम्बन्ध है तथापि 'नहिं चनै' और 'सकुचहिं' पदों से उसका अभाव बताया गया है।

अक्रमातिशयोक्ति[1]

जहां कारण और कार्य एक ही काल में हों, वहां 'अक्रमातिशयोक्ति' होती है।

दर्शनशास्त्र के नियम के अनुसार कारण और कार्य क्रमश' होते हैं, पहले कारण होता है फिर कार्य। इस अलङ्कार में यह दर्शनशास्त्रप्रसिद्ध कारण कार्य का क्रम नहीं रहता, इसीलिये इसे अक्रमातिशयोक्ति कहते हैं।

उदाहरण—

अजामील के प्रान, इत निकसे हरिनाम-जुत।
उत वह बैठि बिमान, तब लगि पहुँच्यौ हरि-सदन॥

(भारती भूषण)

यहां हरिनाम युत प्राणों का निकलना कारण है और विमान पर बैठ कर स्वर्ग में जाना कार्य है। इत, उत कहने

---

१ अतिशयोक्ति अक्रम जु सग, कारन काज बखान।
कढ़त साथ ही म्यान ते, असि रिपु तन ते प्रान॥

(भाषा भूषण)

से दोनों का एक काल में होना बताया गया है, इसलिये अक्रमातिशयोक्ति है। इसी प्रकार—

'धनु सों सर अरि देह सों, प्राण छुट्यो इक संग।'

'वह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जैसै ही हुआ,
धड से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।'

(मैथिलीशरण गुप्त)

ये भी अक्रमातिशयोक्ति के उदाहरण हैं। करण कार्य के क्रम का उल्लङ्घन करने से कवि का इतना ही तात्पर्य है कि कारण इतना शीघ्र कार्यकारी है कि उसके और कार्य के काल में होता हुआ भी अन्तर जान नहीं पड़ता।

चपलातिशयोक्ति

जहां कारण के ज्ञान मात्र से (देखने, सुनने और स्मरण मात्र से) ही कार्य की उत्पत्ति बताई जाय, वहां 'चपलातिशयोक्ति' होती है।

इसे 'चपलातिशयोक्ति' इसलिये कहते हैं कि इस से कार्य में इतनी चपलता—शीघ्रता प्रतीत होती है कि कार्य

---

१ चपलात्युक्ति जु हेतु के, होत नाम ही काज।

कारण के होने न होने की भी अपेक्षा नहीं रखता किन्तु उस कारण के ज्ञान मात्र से ही उत्पन्न हो जाता है।

उदाहरण—

ताही को छुटि मानु गौ, देखत ही ब्रजराज।
रही घरिक लौं मान सी, मान किये का लाज॥

(विहारी)

यहां पूर्वार्ध में ब्रजराज को देखने मात्र से नायिका का मान छूटना बताया गया है।

कैकेयी के कहत ही, रामगमन की बात।
नृप दशरथ के ताहि छिन, सूख गए सब गात॥

(का० क० द्रु०)

यहां भी यद्यपि भगवान् राम का वनगमन महाराज दशरथ के अङ्गों के सूखने का कारण है, तथापि कैकेयी के मुख से रामगमन की बात सुनने मात्र से ही गात सूखना बताया गया है, इसलिये चपलातिशयोक्ति है।

बन्दहु गुरुपद-नख मनि जोती, सुमिरत दिव्य-दृष्टि हिय होती।

यहां गुरुचरणनखों के स्मरण मात्र से दिव्य दृष्टि रूप कार्य बताया गया है।

आयो आयो सुनत ही, शिव सरजा तुव नावँ ।

वैरि-नारि-दृग-जलन सों, बूड़ि जात अरि गावँ ॥

यहां भी शिवा जी के नाम सुनने मात्र से शत्रुओं का नाश रूप कार्य बताया गया है ।

अत्यन्तातिशयोक्ति

कारण से पूर्व ही जहां कार्य की उत्पत्ति बताई जाय, वहां अत्यन्तातिशयोक्ति होती है ।

उदाहरण—

नवगोरी संग लाल की, होरी नई निहार ।

पिचकारी के प्रथम ही, भीजि गये रस-धार ॥

(का० क०)

यहां 'पिचकारी की धारा का पहुंचना' कारण है, उस से पहले ही भीजना रूप कार्य की उत्पत्ति बताई गई है ।

बान न पहुंचैं अङ्ग लौ, अरि पहिले गिरि जाहिं ।

(भाषा भूषण)

---

१ जहां हेतु ते प्रथम ही, प्रगट होत है काज ।

अत्यन्तातिशयोक्ति तेहिं, कहैं सकल कविराज ॥

(अ० म०)

यहां भी शत्रुओं के अङ्गों पर बाण लगने नहीं पाते, परन्तु शत्रु पहले ही गिर जाते हैं।

उदय भयौ पीछे ससी, उदयागिरि के सृङ्ग।
तुव मन-सागर राग की, प्रथमहिं बढ़ी तरङ्ग॥

(जसवन्त जसोभूषण)

समुद्र में तरङ्ग उठने का कारण चन्द्रोदय है, उसे पहले होना चाहिये। किन्तु यहां चन्द्रोदय से पूर्व ही सागर में तरङ्गों का उमड़ना बताया है।

अत्युक्ति

जहां किसी व्यक्ति के अद्भुत मिथ्या सौन्दर्य शूरता आदि गुणों का वर्णन हो, वहां अत्युक्ति अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

जब जब चढ़ति अटानि दिन, चंदमुखी यह बाम।
तब तब घर घर धरत हैं, दीप बारि सब गाम॥

(मतिराम)

जब जब चन्द्रमुखी नायिका दिन में अटारी पर चढ़ती है, तब तब गांव के लोगों को भ्रम हो जाता है कि रात हो गई है क्योंकि रात्रि में ही चन्द्रमा आकाश में उदय होता है, इसलिये वे घरों में दीपक बालना प्रारम्भ कर देते हैं। यह सौन्दर्य का अतिरञ्जित मिथ्या वर्णन है, इसलिये अत्युक्ति है।

कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे,
ब्रह्माण्ड दिग्गज कमठ अहि महि सिन्धु भूधर डगमगे॥

(रा० मा०)

यहां शूरता का अतिरञ्जित वर्णन होने से शूरता की अत्युक्ति है।

तुरग अरव एराक के, मनि आभरन अनूप।
भोगनाथ सौं भीख लै, भए भिखारी भूप॥

(मतिराम)

यहां उदारता की अत्युक्ति है।

वास्तव में 'अत्युक्ति' को पृथक् अलङ्कार नहीं मानना चाहिये। सम्बन्धातिशयोक्ति में ही इस का अन्तर्भाव हो जाता है।

संभावना

जहां 'यदि ऐसा हो' इस प्रकार कोई शर्त लगा कर किसी असम्भव अर्थ की कल्पना की जाय, वहां' सभावना' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

निसि दिन पूरन जगमगै, आवै धोय कलक।
जौ तौ वा मुख की प्रभा, पावै सरद मयंक॥

(रा० स०)

यदि शरद ऋतु का चन्द्रमा रोज़ पूर्ण मण्डल हो कर जगमगावे और सदा अपने कलङ्क को धोकर उदित होवे तब वह नायिका के मुख की कान्ति को प्राप्त कर सकता है, नहीं तो नहीं।

काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मट भट्ट ने 'संभावना' को पृथक् अलङ्कार नहीं माना। उनके मत में यह 'अतिशयोक्ति' का ही एक भेद है।

---

१ होय जु यों तो होय, यों जहँ कहुँ वर्णन होय।
अलङ्कार सभावना, ताहि कहैं सब कोय॥

(अ० म०)

तुल्ययोगिता

'तुल्ययोगिता' शब्द का अर्थ है—तुल्य धर्म से योग—सम्बन्ध। सम्बन्ध एक से अधिक वस्तुओं का ही परस्पर हुआ करता है, इसलिये—

जहां अनेक वस्तुओं का समान धर्म से सम्बन्ध हो, वहाँ 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार होता है।

यह तुल्ययोगिता कई प्रकार की होती है, जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता[1]

जहां प्रस्तुत प्रस्तुतों का या अप्रस्तुत अप्रस्तुतों का समान धर्म (एक धर्म) से सम्बन्ध बताया जाय, वहां पहली 'तुल्ययोगिता' होती है।

जिसके वर्णन का प्रसङ्ग हो, उसे प्रस्तुत, प्रकृत या प्राकरणिक कहते हैं। जिसके वर्णन का प्रसङ्ग न हो, उसे अप्रस्तुत, अप्रकृत या अप्राकरणिक कहते हैं।

---

१ तुल्ययोगिता तहँ धरम, जहँ वर्न्यन को एक।
कहूँ अवर्न्यन को कहत, भूषन बरनि विवेक॥

(भूषण)

उदाहरण—

नभमण्डल महँ उदित जब, तारापति हरसात।

सरसिज-वन अरु स्वैरिणी, वदन तवै सकुचात॥

यहां प्रधान रूप से चन्द्रोदय प्रस्तुत है, परन्तु चन्द्रोदय वर्णन के प्रसङ्ग में चन्द्रप्रकाश को न सहन करने वाले कमल और स्वैरिणी-वदन भी वर्णनीय होते हैं, इसलिये वे भी यहा प्रस्तुत हैं। उनका 'संकोच' रूप समान धर्म के साथ यहां सम्बन्ध वताया गया है, इसलिये तुल्ययोगिता है।

श्री रघुवर के नख चरन, मुख सुखमा सुख खान।

लहै चार फल अछत तनु, देखु घरिक धरि ध्यान॥

(भा० भू०)

भगवान् राम के वर्णन के प्रसङ्ग में उनके नख चरण आदि अङ्ग भी वर्णनीय हैं, इसलिये प्रस्तुत हैं। 'सुखमा सुख खान' पद से उनका एक धर्म के साथ सम्वन्ध वताया गया है।

लखि सखि री इत आय खन, स्वेद खेद भो दूर।

वारिज अरु वनितावदन, विकसे निकसे सूर॥

(रा० स०)

यहां भी प्रस्तुत वारिज और वनितावदन का विकास रूप समान धर्म बताया गया है।

खंजन कमल चकोर अलि, जिते मीन मृग ऐन।

क्यों न बड़ाई कौं लहैं, तरुनि तिहारे नैन ॥

यहां नायिका के नयन प्रस्तुत हैं। खञ्जन आदि अप्रस्तुत हैं। इन खञ्जन आदि अप्रस्तुतों का 'जिते' इस पद के द्वारा 'नायिका के नेत्रों के द्वारा पराजित होना' यह समान धर्म बताया गया है।

अङ्ग अलोक विलोक तव, सकुच वसे वन जाय।

केहरि-कीर-कुरङ्ग-करि, कमल-कम्बु-समुदाय ॥

(भारती भूषण)

यहां नायिका के अङ्ग प्रस्तुत हैं, क्योंकि उन्हीं के वर्णन का प्रसङ्ग है। केहरि-कीर आदि अप्रस्तुत है, इन सब का 'वन[1] (जङ्गल या जल) में जा बसना' यह समान धर्म बताया गया है।

---

१ वन शब्द के 'जङ्गल' और 'जल' दोनों अर्थ हैं। कमल और कम्बु (शङ्ख) जल में और केहरि आदि जङ्गल मे जा बसे।

सिव सरजा भारी भुजन, भुव भर धरयो सभाग ।
भूषन अब निहचिन्त हैं, सेसनाग दिगनाग ॥

(भूषण)

यहां अप्रस्तुत शेषनाग और दिग्गजों का निश्चिन्तता रूप समान धर्म के साथ सवन्ध है ।

दूसरी तुल्ययोगिता

जहा भले और बुरे में समान व्यवहार वताया जाय, वहाँ भी तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है । उदाहरण जैसे—

कोऊ काटो क्रोध करि, वा भींचो कहि नेह ।
वेधत वृक्ष बवूल को, तऊ दुहुन की देह ॥

यहां काटने वाले और सींचने वाले दोनों के साथ ववूल वृक्ष का एक सा व्यवहार वताया है ।

जो निसि दिन सेवन करै, अरु जो करै विरोध ।
तिन्हें परम पद देत प्रभु, कहौ कौन यह बोध ॥

(मतिराम)

---

१ हितु मे अनहितु में जहा, करिये एकौ धर्म ।

(अ० म०)

यहां भले बुरे दोनों के साथ तुल्य व्यवहार होने से तुल्ययोगिता है।

तीसरी तुल्ययोगिता

उत्कृष्ट गुण वाले उपमानों के साथ समान रूप से उपमेय की गणना को भी तुल्ययोगिता कहते हैं। उदाहरण—

मदन–महीपति–तिय–वदन, सरद–चन्द, अरविन्द।
अरु तव मुख सुखमा–सदन, कहत सकल कवि वृन्द॥

(भा० भू०)

यहां महाराज कामदेव की स्त्री (रति) का मुख, शरद् का चांद और कमल—इन उत्कृष्ट गुण वाले उपमानों के साथ उपमेय राधिका जी के मुख की समान रूप से गणना की गई है अर्थात् इन सब को समान रूप से सुषमासदन (सुन्दरता का आश्रय) बताया गया है।

लोकपाल सुरपति वरुन, यम कुबेर नृप मान।

यहां भी इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर—इन चारों उपमानों के साथ राजा मान को समान रूप से लोकपाल बताया गया है।

द्वितीय उल्लेख और तृतीय तुल्ययोगिता का भेद

द्वितीय उल्लेख में एक व्यक्ति या वस्तु का भिन्न भिन्न दृष्टि से कई प्रकार उल्लेख किया जाता है । देखिये पृ० ९८ में द्वितीय उल्लेख का अन्तिम उदाहरण। वहां एक व्यक्ति को वक्तृत्व दृष्टि से गुरु, यश की दृष्टि से अर्जुन और योद्धा की दृष्टि से भीम बताया है-अर्थात् एक व्यक्ति का भिन्न भिन्न गुणों के कारण अनेक रूप से उल्लेख किया है। तृतीय तुल्ययोगिता में एक व्यक्ति का भिन्न भिन्न दृष्टि से अनेक प्रकार उल्लेख नहीं होता किन्तु वहा अनेक उपमान व्यक्तियों का एक धर्म उपमेय में बताया जाता है। देखो तृतीय तुल्ययोगिता का द्वितीय उदाहरण पृ० १४६ । यहां इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर—इन अनेक उपमान व्यक्तियों का 'लोकपालत्व' रूप एक धर्म उपमेय मानसिंह नृपति में बताया है। अर्थात् जैसे इन्द्रादि लोकपाल हैं, ऐसे ही मानसिंह नृपति भी लोकपाल (प्रजापालक) है ।

यह तीसरी तुल्ययोगिता 'दण्डि' कवि ने ही मानी है। नवीन आलङ्कारिकों के मत में यह 'दीपक' अलङ्कार के अन्तर्गत है । 'दीपक' का लक्षण आगे पृष्ठ १४८ पर देखिये । श्रीजयदेव कवि ने तृतीय तुल्ययोगिता को 'सिद्धि' नाम से लिखा है ।

दीपक[1]

जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म के साथ संबन्ध हो, उसे दीपक अलङ्कार कहते हैं।

'दीपक' नाम इस का इसलिये रक्खा गया है कि यहां समानधर्मबोधक शब्द 'दीपक' का काम करता है। जैसे, महल में प्रकाश करने के लिये वाला हुआ दीपक अपने प्रकाश से महल के नज़दीक की सड़क को भी प्रकाशित कर देता है, इसी तरह यहां भी समानधर्मबोधक शब्द यद्यपि प्रस्तुत अर्थ मे ही समान धर्म का अन्वय (सम्बन्ध) बताने के लिये कहा गया है तथापि वह अप्रस्तुत मे भी समान धर्म का सम्बन्ध बता देता है।

सरसिज सों सरसी लसत, नैनन सों तुव गात।

यहां 'गात' प्रस्तुत है और सरसी अप्रस्तुत। दोनों में 'शोभा' रूप एक धर्म का प्रतिपादन करने वाला शब्द है 'लसत'। क्योंकि इस का प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के साथ

---

१ वर्न्य अवर्न्यन को धरम, जहँ बरनत हैं एक।
दीपक ताको कहत है, भूषन सुकवि विवेक॥

(भूषण)

अन्वय है इसलिये 'लसत' यह शब्द प्रस्तुत और अप्रस्तुत— दोनों का उपकारक होने से दीपक के सदृश है।

वलगर्वित शिशुपाल यह, अजहूं जगत सतात ।
सती नार निश्चल प्रकृति, परलोकहु सॅग जात ॥

(का० क० हु०)

यहां पतिव्रता स्त्री अप्रस्तुत है और शिशुपाल की निश्चल प्रकृति प्रस्तुत, इन दोनों का 'परलोकहु सग जात' यह एक धर्म वताया गया है, इसलिये यहां 'दीपक' है।

सोच मोच मृग-लोचनी, मिलि लीजै भर अक ।
व्रज मे पूरनचंद में, है इक स्याम कलक ॥

यहा भी प्रस्तुत व्रज का और अप्रस्तुत पूर्ण चन्द्रमा का 'स्याम कलंक' एक समान धर्म के साथ संवन्ध है।

सुरसरिता सों सिंधु अरु, चन्द्रिकाहि सों चद ।
कीरति सों जसवन्त नृप, महिमा धरत अमद ॥

यहां सिन्धु तथा चन्द्र अप्रस्तुत हैं और जसवन्त नृप प्रस्तुत है । 'महिमा धरत अमंद' इस वाक्य से इनका एक

धर्म बताया गया है, इस लिये यह भी दीपक है। प्राचीनों के मत से यह तृतीय तुल्ययोगिता है।

प्रथम तुल्ययोगिता और दीपक का भेद

प्रथम तुल्ययोगिता में प्रस्तुत प्रस्तुतों का या अप्रस्तुत अप्रस्तुतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध बताया जाता है, देखो पृष्ठ १४२।

दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म से संबन्ध बताया जाता है।

आवृत्ति दीपक[1]

'दीपक' अलंकार के लक्षण में हम बता चुके हैं कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साथ समान धर्म का सम्बन्ध बताने वाला शब्द दीप सदृश होने के कारण 'दीपक' कहलाता है।

जहां 'दीपक' की आवृत्ति हो, उसे 'आवृत्ति दीपक' कहते हैं।

यह तीन प्रकार का होता है—पदावृत्ति दीपक, अर्थावृत्ति दीपक और पदार्थावृत्ति दीपक।

---

१ जहँ दीपक मैं होत है, आवर्तन को जोग।
त्रिविध कहत आवृत्तिजुत, दीपक सब कवि लोग॥
(मतिराम)

पदावृत्तिदीपक[1]

जहां दीपक पद की (समान धर्मबोधक पद की) आवृत्ति हो, वहां 'पदावृत्ति दीपक' होता है।

इतना ध्यान रहना चाहिये कि 'पदावृत्ति दीपक' में केवल पदों में समानता होगी अर्थों में नहीं। उदाहरण जैसे—

घन वरसौं हैं री सखी, निसि वरसौं है सोय।

(काव्य प्रभाकर)

हे सखी! बादल वरसौं हैं—वरसने ही वाले हैं और रात भी वरसौं है—वरस सी हो रही है अर्थात् बड़ी लम्बी हो रही है।

यहां 'वरसौं है' पद मात्र की आवृत्ति हुई है, अर्थ की नहीं। अर्थ दोनों जगह भिन्न २ ही हैं।

जागत हौ तुम जगत मैं, भावसिंह की वान।

जागत गिरिवर कंदरनि, अरिवर तजि अभिमान॥

(मतिराम)

यहां 'जागत' पद की आवृत्ति हुई है।

---

१ अर्थ दोय पर एक की, आवृत्ति करिये जौन।

पदावृत्ति दीपक तहा, कहिये मति के भौन॥

(अ० म०)

नंद सुवन ब्यारू करत, बाढ़ी प्रीति अथोर।
परसति सुन्दरि सरस तिय, परसति दृग की कोर॥

यहां 'परसति' पद की आवृत्ति हुई है।

अर्थावृत्ति दीपक[1]

जहां दीपक पद के केवल अर्थ की आवृत्ति हुई हो, वहां अर्थावृत्ति दीपक होता है।

फूलै वृक्ष कदम्ब के, केतक विकसै आहिं।

यहां 'फूलै' विकसै' पदों में केवल अर्थ की आवृत्ति हुई है।

लखौ लाल तुम कौ लखत, यौ विलास अधिकात।
विँहसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसकात॥

(मतिराम)

यहां 'विँहसत' 'मुसकात' पदों से अर्थ की आवृत्ति हुई है।

अर्थावृत्ति दीपक और तुल्ययोगिता का भेद

अर्थावृत्ति दीपक में समानधर्मबोधकपद के अर्थ की आवृत्ति होती है। तुल्ययोगिता में आवृत्ति नहीं होती।

---

१ शब्द पृथक एकै अरथ, जहाँ सु आवृत लेत।
अर्थावृत्ति दीपक तहाँ, कहैं सुकवि करि हेत॥

(अ० म०)

पदार्थावृत्ति दीपक

जहा पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति हुई हो, वहा 'पदार्थावृत्ति दीपक' होता है।

भले भलाई पै लहैं, लहैं निचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

यहा पूर्वार्ध में 'लहैं लहैं' में और उत्तरार्ध में 'सराहिय सराहिय' में पद और अर्थ—दोनों की आवृत्ति हुई है।

पदावृत्ति दीपक और लाटानुप्रास में भेद

पदावृत्ति दीपक में केवल पदों की आवृत्ति होती है, अर्थ की नहीं अर्थात् पद समान आकार वाले होते हैं। परन्तु अर्थ उन के भिन्न २ होते हैं। देखो पृ० १५१।

लाटानुप्रास में केवल पद की ही आवृत्ति नहीं होती किन्तु अर्थ की भी आवृत्ति होती है। देखो लाटानुप्रास का उदाहरण पृ० ५३।

पदार्थावृत्ति दीपक और लाटानुप्रास का भेद

लाटानुप्रास में यद्यपि पद और अर्थ—दोनों की आवृत्ति होती है तथापि वहां उद्देश्य विधेय भाव मे अन्तर रहता है। देखो पृ० ५३। पदार्थावृत्ति दीपक में उद्देश्य विधेय भाव में भी अन्तर नहीं होता। 'भले भलाई पै लहैं' इत्यादि पदार्थावृत्ति दीपक के उदाहरण में 'लहैं' और 'सराहिय' दोनों विधेय

बोधक ही हैं। दूसरे—पदार्थावृत्ति दीपक में जिस पद की आवृत्ति होती है, वह समानधर्मबोधक होता है। लाटानुप्रास में ऐसा नहीं है। यही भेद पदावृत्ति दीपक और यमक का भी समझना चाहिये।

कारक दीपक

जहां अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो, उसे कारक दीपक कहते हैं।

कहत नटत रीझत खिजत, हिलत मिलत लजियात।
भरे भौन में करतु हैं, नैनन ही सों बात॥

यहां कहना नटना रीझना आदि अनेक क्रियाओं का एक ही (नायिका) कर्ता है।

देहरीदीपक

जहां मध्य में पढ़े हुए शब्द का अन्वय पूर्व वाक्य और उत्तर वाक्य दोनों में हो, वहां 'देहरीदीपक' अलङ्कार होता है। जैसे देहली में रक्खा हुआ दीपक अन्दर बाहर दोनों तरफ़ उजाला करता है, इसी तरह 'देहरीदीपक' में मध्यस्थ पद पूर्व उत्तर दोनों वाक्यों का उपकारक होता है, इसीलिये इसको देहरी दीपक कहते है। जैसे—

वंदउँ विधि-पद-रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल विष वारुनी॥

(रा० मा०)

यहां उत्तरार्ध में बीच में पढ़े हुए 'प्रगटे' शब्द का 'सुधा ससि धेनु प्रगटे' और 'विष वारुनी प्रगटे' इस प्रकार पूर्व उत्तर दोनों वाक्यों के साथ अन्वय होता है।

वास्तव में यह 'देहरीदीपक' 'पदार्थावृत्ति दीपक' के ही अन्तर्गत है। क्योंकि यहां अर्थ ज्ञान के लिये पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति करनी ही पड़ती है। चमत्कार भी कोई ऐसा विशेष प्रतीत नहीं होता, जिसके कारण इसे पृथक् अलङ्कार माना जाय।

प्रतिवस्तूपमा[1]

जहां उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य--दोनों में एक ही साधारण धर्म पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा बताया जाता है, वहां 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार होता है।

जिस वाक्य में उपमान का वर्णन हो वह उपमानवाक्य कहलाता है, जिसमें उपमेय का वर्णन हो वह उपमेयवाक्य।

उदाहरण जैसे—

भ्राजत भानु प्रताप सों, राजत धनु सों सूर।

यहां सूर—शूर पुरुष उपमेय है, उसका वर्णन 'राजत धनु सों सूर' इस वाक्य में किया गया है, इसलिये यह

---

1 प्रतिवस्तूपमधर्म सम, जुदे जुदे पद जान।
सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनु बान॥

उपमेयवाक्य है। भानु उपमान है, उसका वर्णन 'भ्राजत भानु प्रताप सों' इस वाक्य में किया गया है, इसलिये यह उपमान वाक्य है। इन दोनों उपमेय उपमानों का साधारण धर्म है 'शोभित होना'। वह उपमान वाक्य में 'भ्राजत' इस शब्द से बताया गया है और उपमेय वाक्य में 'राजत' इस शब्द से। एक ही धर्म को दो वाक्यों में पृथक् पृथक् शब्द द्वारा बताने के कारण यहां प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। 'प्रतिवस्तूपमा' शब्द का वाच्य अर्थ भी यही है—प्रतिवस्तु—प्रत्येक वाक्यार्थ में, उपमा—सादृश्य जहां प्रतीत हो, वह प्रतिवस्तूपमा है।

पिशुन वचन सज्जन चितै, सकै न फोरि न फारि।
कहा करै लगि तोय में, तुपक, तीर, तरवारि॥

(मतिराम)

यहां 'पिशुन वचन' उपमेय है। उसका वर्णन दोहे के पूर्वार्ध में किया गया है, इसलिये वह उपमेय वाक्य है। तुपक[1], तीर, तरवारि उपमान हैं। इनका वर्णन दोहे के उत्तरार्ध में है, इसलिये वह उपमान वाक्य है। 'कुछ न कर सकना' यह उपमान उपमेय का साधारण धर्म है। यह एक ही साधारण

---

१ बन्दूक, पिस्तौल।

धर्म उपमेय वाक्य में 'सकै न फोरि न फारि' इस शब्द से और उपमान वाक्य में 'कहा करै' इस शब्द से बताया है।

जाय उतै बलि पेखिये, छाय रही छवि स्याम।
सोभति वेलि विकास सों लसति हास सों बाम ॥

यहा भी 'सोभति' और 'लसति' इन भिन्न शब्दों से उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में एक ही साधारण धर्म का कथन किया गया है।

चटक न छाडत घटत हू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रग्यो लोह रंग चीर ॥

यहा भी 'चटक न छाड़त' 'फीको परै न' इन भिन्न २ शब्दों से एक ही समान धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

यह प्रतिवस्तूपमा दो प्रकार की होती है—एक साधर्म्य से और दूसरी वैधर्म्य से। पूर्व के सब उदाहरण साधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा के हैं। वैधर्म्य का उदाहरण जैसे—

मुखहि अलक को छूटिबो, अवसि करै दुतिमान।
बिन बिभावरी के नहीं, जगमगात सितभान ॥

यहा उपमेय वाक्य में द्युतिमान् होना और उपमान वाक्य में जगमगाना दोनों एक ही धर्म हैं, इसलिये प्रतिवस्तूपमा है। परन्तु उपमान वाक्य में निषेध रूप से साधारण धर्म का प्रतिपादन किया है इसलिये वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा है।

'विना रात के चाद्रमा नहीं जगमगाता' यह उपमान वाक्य का अर्थ है। यद्यपि 'द्युतिमान् होना' और 'नहीं जगमगाना' दोनों विपरीत धर्म हैं तथापि 'विना रात के चांद नहीं जग मगाता' इस से अर्थात् यह प्रतीति हो जाती है कि 'रात ही चन्द्रमा को जगमगाती है'।

दीपक और प्रतिवस्तूपमा का भेद।

'दीपक' में प्रस्तुत और अप्रस्तुन का समान धर्म एक शब्द के द्वारा वताया जाता है। जैसे—

"सरसिज सों सरसी लसत नैनन सों तुव गात"

यहाँ 'सरसी' और 'गात' का समान धर्म 'लसत' इस एक शब्द के द्वारा वताया गया है। देखो पृ० १४८। 'प्रतिवस्तूपमा' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का समान धर्म समानार्थक दो शब्दों के द्वारा वताया जाता है। जैसे—

'भ्रातज भानु प्रताप सों राजत धनु सों सूर'

यहाँ 'भानु' और 'शूर' का समान धर्म 'भ्राजत' और 'राजत' इन दो समानार्थक शब्दों से वताया गया है। देखो पृ० १५५।

अर्थावृत्तिदीपक और प्रतिवस्तूपमा का भेद

अर्थावृत्ति दीपक मे प्रस्तुत प्रस्तुतों का या अप्रस्तुत अप्रस्तुतों का एक धर्म वताया जाता है। जैसे—

'फूलै वृक्ष कदम्बके, केतक विकसै आहिं'

यहाँ कदम्बवृक्ष और केतक दोनों प्रस्तुत हैं । प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म बताया जाता है। देखो पृ० १५५

दृष्टांत[1]

जहां उपमेय, उपमान और उनके साधारण धर्मों का परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो, वहां दृष्टान्त अलङ्कार होता है।

सो, से, सी, इव आदि सादृश्यवाचक शब्दों के बिना जहा उपमान उपमेय और उनके धर्मों का परस्पर सादृश्य ध्यान देने से प्रतीत हो, वहा उन का परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। उदाहरण जैसे—

दीन दरिद्रिन दुखिन को, करत न प्रभु अपकार ।
केहरि कबहुँ कि कृमिन पै, करतल करत प्रहार ॥

(भा० भू०)

यहां पूर्वार्ध में कहे गए प्रभु, दीन, दरिद्र और दुखी उपमेय हैं। उत्तरार्ध में केहरी और कृमि उपमान हैं। 'अपकार

---

[1] जुग वाक्यन को अर्थ जहँ, प्रतिबिम्बित सो होत।
तहा कहत दृष्टान्त हैं, भूपन सुमति उदोत ॥

(भूषण)

न करना' प्रभु का और 'प्रहार न करना' केहरी का धर्म है। इन सब का परस्पर विम्ब प्रतिविम्ब भाव है-अर्थात् इव आदि शब्दों के विना भी ध्यान देने से प्रभु और केहरी में, दीन, दरिद्र, दुखियों और कृमियों में और 'अपकार न करना' और 'प्रहार न करना' इन दोनों धर्मों में परस्पर समानता प्रतीत होती है।

श्री अप्पय दीक्षित के मत से केवल धर्मों के विम्व-प्रतिविम्व भाव में ही दृष्टान्त होता है। उनके मत से विम्व-प्रतिविम्व भाव का यह लक्षण है—

"वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्या-दभिन्नयोः पृथगुपादानं विम्वप्रतिविम्वभावः।"

अर्थात्—उपमान उपमेय के जो धर्म वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हों, परन्तु परस्पर सादृश्य होने के कारण उन में अभेद प्रतीति होती हो, उनका पृथक् पृथक् शब्दों से बोधन करना ही विम्वप्रतिविम्व भाव कहलाता है।

भरतहि होहिं न राजमद, विधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि, छीर-सिंधु बिलगाइ॥

(रा० मा०)

यहां भरत उपमेय है 'उच्चपद पाकर भी राजमद न होना' यह उसका धर्म है। क्षीरसागर उपमान है 'कांजी की बूंदों से न फटना' यह उसका धर्म है। इनका परस्पर विम्वप्रति-

बिम्बभाव है। क्योंकि उपमावाचक शब्द के विना भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इनमें एक प्रकार की समानता प्रतीत होती है।

शिव औरंगहि जिति सके, और न राजा राव।

हत्थि-मत्थ पर सिंह विनु, आन न घालै घाव॥

(भूषण)

पगी प्रेम नंदलाल के, हमैं न भावत जोग।

मधुप राजपद पाय कै, भीख न मांगत लोग॥

(मतिराम)

इन दोनों उदाहरणों में भी उपमानवाक्य के अर्थ का उपमेयवाक्य के अर्थ के साथ परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

फूलइ फलइ न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।

यहा भी दृष्टान्त है। पूर्वोक्त उदाहरणों में पहले उपमेयवाक्य का निर्देश है फिर उपमानवाक्य का, इसमें उनके विपरीत पहले उपमानवाक्य का फिर उपमेयवाक्य का।

यह दृष्टान्त अलङ्कार साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। पहले सब उदाहरण साधर्म्य के हैं। वैधर्म्य का उदाहरण जैसे—

प्रकट करहिं जिय प्रीति को, जे नर सुजन सुधार।

नहिं कबहू कुचला जु है, ताप मिटावन हार॥

यहां 'प्रीति प्रकट करना' और 'ताप न मिटाना' इन दोनों धर्मों का वैधर्म्य से बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है ।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त का भेद ।

जहां उपमान और उपमेय के धर्मों में परस्पर वस्तु प्रतिवस्तु भाव हो, वहां प्रतिवस्तूपमा होती है । जब एक ही धर्म दो शब्दों से पृथक् पृथक् बताया जाय तब 'वस्तुप्रति-वस्तुभाव' होता है । देखो प्रतिवस्तूपमा का पहला उदाहरण-पृ० १५५ । दृष्टान्त में उपमान उपमेय और उनके धर्मों का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है ।

निदर्शना[1]

जहां उपमेयवाक्यार्थ में उपमानवाक्यार्थ का अभेद आरोपित किया जाय, वहां निदर्शना अलङ्कार होता है ।

जंग जीत जे चहत हैं, तोसों बैर बढ़ाय ।
जीवे की इच्छा करत, काल कूट ते खाय ॥

तात्पर्य यह कि तुम से बैर बढ़ाकर लड़ाई में जीत की इच्छा करना कालकूट विष खाकर जीने की इच्छा करने के समान है । यहां 'बैर बढ़ाकर लड़ाई में जीतने की इच्छा'

---

१ सदृश वाक्य जुग अरथ को, करिए एक अरोप ।
भूषन ताहि निदर्शना, कहत बुद्धि दै ओप ॥

करना' यह उपमेयवाक्यार्थ है, इस मे 'कालकूट खाकर जीने की इच्छा करना' इस उपमानवाक्यार्थ का अभेद आरोपित किया गया है। 'जे ते' शब्द यहां अभेदप्रतीति के हेतु हैं।

जे असि भगति जानि परिहरहिं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आक फिरहिं पय-लागी॥

(रा० मा०)

यहां भी 'जे ते' शब्द के द्वारा उपमानवाक्यार्थ और उपमेयवाक्यार्थ का अभेद बताया गया है।

'जो विना गुण के गौरव प्राप्त करना चाहते हैं, वे हथेली पर सरसों जमाने का यत्न करते हैं।'

अर्थात् विना गुणों के गौरव प्राप्त करने की इच्छा करना हथेली पर सरसों जमाने का यत्न करने के बराबर है। यहा भी उपमानवाक्यार्थ और उपमेयवाक्यार्थ का अभेद है। 'जो वे' शब्द अभेद के बोधक हैं।

कहीं कहीं 'जे' 'ते', 'जो' 'वे' इत्यादि शब्दों के विना भी अभेद प्रतीति हो जाती है। जैसे—

'मीठे वचन उदार के सोने माहिं सुगध'

अर्थात् उदार पुरुष के वचन सोने में सुगन्ध होने के समान हैं।

दूसरी निदर्शना

जहां उपमान के गुण का उपमेय में और उपमेय क गुण का उपमान में सम्बन्ध बताया जाय, वहां द्वितीय निदर्शना होती है।

उदाहरण जैसे—

जब कर गहत कमान सर, देत परनि कौ भीति।

भावसिंह मैं पाइए, तव अरजुन की रीति॥

(मतिराम)

यहां 'अर्जुन' उपमान है और 'भावसिंह' उपमेय। उपमान अर्जुन की रीति उसका अपना असाधारण धर्म है, परन्तु यहां वह उपमेय भावसिंह में बताई गई है।

' और ठौर के धर्म को, और ठौर आरोप।

विद्रुम की यह धरत है, अधर ललाई ओप॥

(का० प्र०)

पारस की सुबरन करन, वारिद बरसन बान।

बनद कोप की सरसता राम पानि पहिचान॥

(भा० भू०)

सुबरन करन—सोना बनाना पारस का, बरसन बान—बरसने की आदत बादल का, सरसता–सदा हरा भरा रहना· कभी कम न होना कुबेर के ख़ज़ाने का अपना गुण है। परन्तु यहा इन गुणों का सम्बन्ध भगवान् राम के हाथ के साथ बताया गया है।

तुव वचनन की मधुरता, रही सुधा महँ छाय।

चारु चमक चल नैन की मीनन लई छिनाय॥

यहां 'वचन' उपमेय है और 'सुधा' उपमान। वचन की मधुरता वचन में ही रह सकती है और जगह नहीं, परन्तु यहा उसे उपमान सुधा में बताया गया है। इसी प्रकार चञ्चल नयनों का गुण चमक मीनों में बताया गया है।

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।

रतन पदारथ मानिक मोती॥

(मलिक मोहम्मद जायसी)

यह पद्मावती की दन्त ज्योति का वर्णन है। यहां दन्त

उपमेय की ज्योति का सम्बन्ध रवि आदि के साथ बताया गया है।

तीसरी निदर्शना

जहां कोई वस्तु अपनी क्रिया के द्वारा सत् या असत् अर्थ का बोध करावे, वहां तीसरी निदर्शना होती है।[1]

हरिमुख लखि लोचन सखी, सुख मैं करत विनोद।
प्रगट करत कुवलयन कौं, चन्द्रोदयतैं मोद॥

यहां लोचन अपनी हरिमुख-दर्शन से होने वाली विनोद-क्रिया के द्वारा चन्द्रोदय से कुमुदों का मोद (विकास) प्रकट करते हैं। चन्द्रोदय से कुमुदों का विकसित होना सदर्थ है—शुभ है।[2]

---

१ करत असत सत अर्थ को, एक क्रिया सौं बोध।
निदरसना यह और हू, कहत सुकवि मति सोध॥

(मतिराम)

२ क्योंकि हरिमुख चन्द्र के सदृश है और लोचन कुमुद के सदृश हैं। चन्द्र-सदृश हरिमुख के दर्शन से यदि कुमुद-सदृश नेत्र विनोद को प्राप्त करते हैं तो इससे यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि चन्द्रोदय से कुमुद विकसित होते हैं।

गुरु-पादोदक सिर धरिय, सदा जतावत एहु ।
सिर धारत हैं गङ्ग को, महादेव करि नेहु ॥

यहा भी महादेव जी अपने सिर पर गङ्गा को धारण करके यह प्रकट करते है कि गुरुचरणोदक को अवश्य सिर पर धारण करना चाहिये । गुरुचरणोदक सिर पर धारण करना प्रशंसनीय होने के कारण 'सत्' है ।

दै सुफूल फल दल सुद्रुम, यह उपदेशत ज्ञान ।
लहि सुख सपति कीजिये, आए को सनमान ॥
तजि आसा तन प्रान की, दीपहिं मिलत पतङ्ग ।
दरसावत सब नरन को, परम प्रेम को ढङ्ग ॥

(भिखारीदास)

इत्यादि उदाहरण भी क्रिया के द्वारा सदर्थ बोधन के हैं । असदर्थ का उदाहरण जैसे--

वृथा ताप—कारक जगत, को चिर सपति पात ।
यह सूचत ग्रीपम दिनन, रवि अस्ताचल जात ॥

(का० क० द्रु०)

गर्मी की मौसम में दिन भर संसार को व्यर्थ तपा कर अस्ताचल की ओर जाता हुआ सूर्य कहता है कि संसार में व्यर्थ दूसरों को तपाने (सताने) वाले पुरुषों की संपत्ति

सदा नहीं रहती, अर्थात् जिस प्रकार मैं मध्याह्न में सब पुरुषों के सिर पर आरूढ होकर भी पतन को प्राप्त हो रहा हूं, उसी प्रकार दूसरों को व्यर्थ सताने वाले पुरुषों का भी अवश्य पतन होता है। यहां सूर्य ने अपनी अस्ताचल गमन क्रिया के द्वारा 'वृथा दूसरों को सन्ताप देने वाले स्थायी ऐश्वर्य नहीं पाते' इस असदर्थ का बोधन किया है।

मधुप ! त्रिभङ्गी हम तजी, प्रगट परम करि प्रीति।
प्रगट करी सब जगत में, कटु कुटिलन की रीति ॥

(मतिराम)

यहां भी त्रिभङ्गी (शरीर में तीन जगह वक्र) श्रीकृष्ण जी ने गोपियों को छोड़कर 'कुटिलों में कुटिलता होती है' यह असत् अर्थ प्रकाशित किया।

निदर्शना और दृष्टान्त का भेद

निदर्शना में उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। दृष्टान्त में दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष रहते हैं।

इन दोनों अलङ्कारों में एक गूढ भेद और भी है—निदर्शना में जब तक उपमानवाक्यार्थ और उपमेयवाक्यार्थ में सादृश्य प्रतीत नहीं होता तब तक वाक्यार्थ संगत ही नहीं

होता। परन्तु दृष्टान्त में सादृश्य प्रतीति के विना भी दोनों वाक्यों के अर्थ संगत ही रहते हैं, असंगत नहीं।

जो निदर्शना और दृष्टान्त का भेद है, वही निदर्शना और प्रतिवस्तूपमा का भी है।

व्यतिरेक[1]

जहां उपमान की अपेक्षा उपमेय में व्यतिरेक (आधिक्य या उत्कर्ष) बताया जाय, वहां व्यतिरेक अलङ्कार होता है।

यह अहनिसि विकसित रहै, वह निसि में कुँभिलाय।
या तें तो मुख कमल लौं, कह्यो कह्यो किमि जाय॥

(रा० स०)

यहां मुख उपमेय है और कमल उपमान। कमल की अपेक्षा मुख का उत्कर्ष बताया गया है। मुख रात दिन विकसित रहता है और कमल रात में कुम्हला जाता है।

---

1 जहा होत उपमान ते, उपमेय में विसेख।
तहा कहत व्यतिरेक हैं, कवि जन मति उल्लेख॥

(मतिराम)

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन, पै कहत न जाना ॥

निज परिताप द्रवै नवनीता। पर-दुख द्रवैं सुसन्त पुनीता ॥

(रा० मा०)

यहां नवनीत उपमान की अपेक्षा सन्त हृदय उपमेय का उत्कर्ष बताया है। क्योंकि वह पराए दुःख से पिघल जाता है, नवनीत नहीं पिघलता।

ए री या ती के मुखै, पूनोमसि मम जोइ।

पर या मैं लखि मित्र कों, मखि दूनी दुति होइ ॥

यहां भी उपमान पूनो के चांद की अपेक्षा नायिका के मुख का व्यतिरेक बनाया गया है। पूनों का चांद मित्र (सूर्य) के सामने हीनकान्ति हो जाता है, परन्तु इसकी मित्र (सुहृद्, नायक) के सामने दुगुनी कान्ति हो जाती है।

साहित्यदर्पणकार के मत से जिस प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष मे 'व्यतिरेक' होता है, उसी प्रकार उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में भी व्यतिरेक होता है।

उदाहरण जैसे—

तुव दृग उपमा कमल की, सब कवि कहैं, सु मैं न।

ए पिय-हिय सुख-दैन हैं, वे सब जन सुख-दैन ॥

यहां उपमेय मुख की अपेक्षा उपमान कमल में उत्कर्ष बताया है। मुख केवल 'पिय-हिय' को ही सुख देता है, परन्तु वे (कमल) सब को सुख देते हैं।

श्री जयदेव कवि ने व्यतिरेक[1] का लक्षण यों किया है—'जहां उपमान और उपमेय का भेद बता दिया जाय, वहां व्यतिरेक अलङ्कार होता है।'

यह भेद दोनों तरह से बताया जा सकता है—उपमेय में उपमान की अपेक्षा आधिक्य (उत्कर्ष) बता कर या न्यूनता (अपकर्ष) बता कर।

उदाहरण जैसे—

सन्त शैल-सम उच्च हैं, किन्तु प्रकृति सुकुमार।

यहां स्वभाव का सुकुमार (मृदु) होना शैलों की अपेक्षा सन्तों का उत्कर्ष है।

उपमेय की न्यूनता का उदाहरण जैसे—

"हे अशोक! तू नए पत्तों से रक्त (लाल) है, मैं स्पृहणीय प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरक्त[2]) हूं। तेरे पास शिलीमुख

---

१ व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययो। (चन्द्रालोकः)

२ नायिका में।

(भौंरे) आते हैं, मेरे पास भी कामदेव के धनुष से निकले हुए शिलीमुख (बाण) आते हैं । कामिनी का चरणाघात[1] जैसे तुझे आनन्द देता है वैसे ही मुझे भी। इसलिये तू और मैं सब तरह बराबर ही हैं। सिर्फ तू अशोक–शोकरहित–है, और विधाता ने मुझे सशोक–शोकसहित–बना दिया है।"

यहां उपमान अशोक की अपेक्षा उपमेय विरही नायक में शोकयुक्त होने से न्यूनता है।

सहोक्ति

जहाँ सहार्थक (सह, सङ्ग, साथ आदि) शब्द की सहायता से अनेक वस्तुओं का एक साथ एक क्रिया में अन्वय हो वहां 'सहोक्ति' अलङ्कार होता है।

जिन अनेक वस्तुओं का एक क्रिया में अन्वय होता है उनमें कोई प्रधान होता है और कोई गौण (अप्रधान)।

---

१ कामिनी के चरणाघात से अशोक वृक्ष में फूल लगने लगते हैं ऐसी कविप्रसिद्धि है। फूल लगना ही अशोक का आनन्द है।

उदाहरण जैसे--

सूर्य के साथ ही निकल जाना,
दिन चढ़े घूम घाम कर आना।
काम था काम से न धन्धे से,
काम था सिर्फ खेलना खाना ॥

(गयाप्रसाद शुक्ल)

यह लड़कपन का वर्णन है। इस पद्य के पहले चरण मे 'सहोक्ति' अलङ्कार है। ज्यों ही सूर्य निकला (उदय हुआ) त्यों ही बालक भी घर से बाहर निकल पड़ा। यहां 'साथ' शब्द की सहायता से सूर्य का और बालक का एक साथ 'निकल जाना' इस एक क्रिया के साथ अन्वय होता है। बालक प्रधान है और सूर्य गौण है।

यह बात सदा ध्यान में रहनी चाहिये कि चमत्कार ही अलङ्कारों का प्राण है। चमत्कारशून्य को अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। सहोक्ति वहीं चमत्कारजनक होती है, जहा इस के मूल में अतिशयोक्ति है--जैसे इसी उदाहरण में देखिये।

सूर्योदय घर से बाहर निकलने का हेतु है, परन्तु यहा सूर्योदय और घर से बाहर निकलना दोनों एक साथ बताए गए हैं। जहा कारण और कार्य एक साथ बताए जाते हैं

वहां अक्रमातिशयोक्ति होती है, देखो पृ० १३५। इसलिये यहां सहोक्ति अतिशयोक्तिमूलक होने से चमत्कार जनक है। जहां अतिशयोक्ति नहीं होगी, वहां सह, साथ आदि शब्दों के रहते हुए भी चमत्कार न होने से अलङ्कार नहीं माना जायगा। जैसे 'राम कृष्ण के साथ खेलता है' यहां सहोक्ति अलङ्कार नहीं है।

दूसरा उदाहरण—

मुनिनाथ के गात रुमांचन साथ हि वो सहसा शिवचाप उठायो।
नरनाथन के मुखमण्डल साथ हि जो अवनी तल ओर नमायो॥
मिथिलेससुतामन साथ हि त्यौं गुनि खैंचिकै जो छिनमाहि चढ़ायो।
भृगुनाथके गर्व अखण्डित साथ सो खण्डितकै रघुनाथ गिरायो॥

(कन्हैयालाल पोद्दार)

यहां प्रथम पाद मे साथ शब्द की सहायता से 'उठायो' क्रिया में रोमाञ्च का और शिव-चाप का एक साथ अन्वय होता है। 'रोमाञ्च' अप्रधान और शिवचाप प्रधान है।

इसी प्रकार द्वितीय पाद में मुखमण्डल का और शिव चाप का 'नमायो' क्रिया मे, तृतीय मे सीता के मन का और धनुष की डोरी का 'खैंचिकै' क्रिया में और चतुर्थ में परशुराम जी के गर्व का और शिवचाप का 'खण्डितकै' क्रिया में एक

साथ अन्वय होता है। राजाओं के मुखमण्डल, सीता जी का मन और परशुराम जी का गर्व ये तीनों गौण हैं। शिव-चाप और धनुष की डोरी प्रधान है।

इसी प्रकार

भौंहनि संग चढ़ाइयौ, कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह सग ही बढ़्यौ, लोचन लाज उरोज॥

(मतिराम)

जस, प्रताप, वीरता, वधाई। नाक, पिनाकहि सग सिधाई॥

इत्यादि भी सहोक्ति के उदाहरण हैं। भूषण कवि ने सहोक्ति का लक्षण यों लिखा है--

वस्तुन को भासत जहा जनरजन सहभाव।
ताहि सहोक्ति बखानहीं जे भूपन कविराव॥

उनके मत से यहा भी सहोक्ति हो सकती है--

विँहसि केलि मदिर गई लख्यो न जियको नाथ।
नैनन ते जल करन तैं वलय गिरे इक साथ।
हो हरि गोरी खेलते होरी रह्यो न धीर।
सगहिँ अँखियनि में धसे अलि बलवीर अवीर॥

(रा० स०)

विनोक्ति

यदि प्रस्तुत वस्तु किसी अन्य वस्तु के विना अरमणीय (अशुभ) या रमणीय (शुभ) बताई जाय तब विनोक्ति अलङ्कार होता है।

इस अलङ्कार में प्रायः 'विना' शब्द या उसके समानार्थक 'हीन' 'रहित' 'न हो' आदि शब्दों का प्रयोग रहता है।

उदाहरण—

विना पुत्र सूना सदन गत-गुण सूनी देह।

वित्त विना सब शून्य है प्रियतम विना सनेह॥

यहां पुत्र आदि के विना प्रस्तुत सदन (गृह) आदि की अरमणीयता बताई गई है।

विन घन निर्मल शरद—नभ राजतु है निजरूप।

अरु रागादिक दोष विन मुनि-मन विमल अनूप॥

यहां घन के विना शरद् ऋतु के आकाश की और रागादि दोष के विना मुनियों के मन की रमणीयता कही गई है।

---

१ जहं प्रस्तुत कछु बात विन कै नीको कै हीन।
वरनत तहा विनोक्ति हैं, कवि 'मतिराम' प्रवीन॥

विषयनि ते निर्वेद वर, ज्ञान योग व्रत नेम।
विफल जानिए ये विना, प्रभु-पद-पङ्कज-प्रेम ॥
देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह।
राजत एक पतङ्ग मैं, विना कपट को नेह ॥

(मतिराम)

ये भी विनोक्ति के उदाहरण हैं।

समासोक्ति[1]

जहां विशेषणों की समानता के कारण प्रस्तुत वृत्तान्त में अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है, वहां 'समासोक्ति' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

मुख पियूषमय सीत रुचि, ऋपि-संभव सुचि देह।
पै ससि सेवत वारुनी, अति अनुचित गति एह ॥

(भारती भूषण)

---

१ जहँ प्रस्तुत मे होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान।
समासोक्ति तहँ कहत हैं, कविजन परम सयान ॥

(मतिराम)

यह अस्त होते हुए चन्द्र का वर्णन है । हे चन्द्र ! यद्यपि तुम्हारा मुख अमृतमय है, तुम्हारी कान्ति शुभ्र है, तुम्हारा पवित्र शरीर ऋषिकुल में उत्पन्न हुआ है, फिर भी तुम वारुणी (पश्चिम दिशा और शराब) का सेवन करते हो। यह तुम्हारी चाल अत्यन्त अनुचित है । यहां प्रस्तुत चन्द्र वृत्तान्त में किसी शराबी ब्राह्मण का वृत्तान्त प्रतीत होता है, जो यहां अप्रस्तुत है । विशेषण चन्द्र और ब्राह्मण के समान ही हैं ।

लोभ लग्यौ निसि दिन भ्रम्यौ, वन उपवन वह ठौर ।
मिली मिलिन्दहिं मालती, सरिस पै न अलि और ॥

(भा० भू०)

भौंरा लालचवश रात दिन वन उपवनों में घूमा, परन्तु उसे मालती के सदृश कोई न मिला । यहां भ्रमर वृत्तान्त प्रस्तुत है, उसमें अप्रस्तुत लम्पट नायक का वृत्तान्त प्रतीत होता है । प्रथम उदाहरण में विशेषण श्लिष्ट हैं, द्वितीय मे अश्लिष्ट हैं ।

तच्यौ आंच अति विरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि ।
नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि पसीजि ॥

(विहारी)

विरहाग्नि से पसीज कर हृदय अश्रुरूप में नेत्रों के मार्ग से बाहर निकल रहा है, यह प्रस्तुत वृत्तान्त है। इस से अप्रस्तुत अर्क टपकाने की क्रिया का भान होता है।

श्लेष और समासोक्ति का भेद

श्लेष में दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं और विशेष्य विशेषण दोनों में श्लेष होता है। समासोक्ति में एक अर्थ प्रस्तुत होता है दूसरा अप्रस्तुत और केवल विशेषण में श्लेष होता है विशेष्य में नहीं। पहले उदाहरण मे 'ससि' विशेष्य पद है। उस में श्लेष नहीं है, केवल उसके विशेषणों में श्लेष है।

परिकर[1]

जहां विशेषण किसी विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हों, उसे 'परिकर' कहते हैं।

उदाहरण जैसे—

चक्रपानि हरि को निरखि, असुर जात भजि दूरि।
रस बरसत घनस्याम तुम, ताप हरत मुद पूरि॥

---

१ साभिप्राय विशेषननि, भूषन परिकर मान।

(भूषण)

यहां 'चक्रपानि' और 'घनस्याम' ये हरि के विशेषण हैं, और साभिप्राय हैं। 'हरि में असुरों को भगाने, रस बरसाने और ताप हरने का सामर्थ्य है' यह बताने के अभिप्राय से ही कवि ने यहां इनका प्रयोग किया है।

"अपवित्र वस्तुओं का भण्डार नश्वर क्षुद्र शरीर के लिये भी मूढ मनुष्य पाप करते हैं।"

यहां 'अपवित्र वस्तुओं का भण्डार' 'नश्वर' और 'क्षुद्र' ये शरीर के विशेषण हैं। शरीर को हेय और रक्षा के अयोग्य बताने में इनका तात्पर्य (अभिप्राय) है। तभी तो पाप करके ऐसे शरीर की रक्षा करने वालों को 'मूढ' कहा गया है।

हिमकरधर शङ्कर सदा, करहु दूर मम ताप।

यहां भी 'हिमकरधर' यह विशेषण शङ्कर में तापनाश की योग्यता का सूचक होने से साभिप्राय है।

परिकराङ्कुर

जहां विशेष्य वाचक पद साभिप्राय हो, उसे 'परिकराङ्कुर' कहते हैं।

---

१ साभिप्राय विशेष्य ते, परिकर-अङ्कुर जान॥

(भूषण)

हृषीकेस सुनि नाऊँ जाऊँ बलि अति भरोस जिय मोरे।

तुलसिदास इन्द्रिय-सभव-दुख हरि बनिहि प्रभु तोरे॥

तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रभु आप का नाम हृषीकेश (हृषीक+ईश=इन्द्रियों का स्वामी) है, आप ही मेरे इन्द्रियों से होने वाले दु खों को नाश कर सकते हैं। यहां 'हृषीकेश' यह विशेष्य पद है। 'भगवान् में इन्द्रियों से होने वाले दुखों का नाश करने का सामर्थ्य है' इस विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये इसका प्रयोग किया गया है।

"धरनि-सुता धीरज धरेउ, समय सुधर्म विचारि।"

यहां 'धरनि सुता' यह विशेष्य धैर्य धारण मे साभिप्राय है।

बाल बेलि सूखी सुखद, इहि रूखे रुख घाम।

फेरि डहडही कीजिये, सुरस सींचि घनश्याम॥

(बिहारी)

यहा सींचने में 'घनश्याम' यह विशेषण साभिप्राय है।

अर्थ-श्लेष

यदि शब्द स्वभावतः एकार्थक हों परन्तु उनसे अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) हो तब अर्थश्लेप अलङ्कार होता है।

यद्यपि शब्द-श्लेष मे भी अनेक अर्थों का अभिधान होता है तथापि वहां शब्द स्वभावतः एकार्थक नहीं होते, किन्तु अनेकार्थक होते हैं। दूसरी बात यह है कि शब्द-श्लेष में शब्द नहीं बदले जा सकते। उन्हीं शब्दों के रहने पर ही चमत्कार होता है। इसके विपरीत-अर्थ-श्लेष मे शब्द बदल देने पर भी यदि अर्थ वही रहे तो चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता।

उदाहरण—

रंचहि सौ ऊंचे चढ़ैं, रंचहि सौ घट जांहि।
तुला कोटि खल दुहुंन की, सदृश रीति जग मांहि॥

यहां 'ऊंचे चढ़ैं' और 'घट जांहि' इन दोनों पदों में श्लेष है। तुला के पक्ष में 'ऊँचे चढ़' का अर्थ है ऊपर हो जाती है, और दुष्ट के पक्ष में 'अभिमान करने लगता है' यह अर्थ है। इसी प्रकार 'घट जांहि' इसका अर्थ भी दोनों पक्षों में क्रमशः— 'नीचे झुक जाती है' और 'दीन बन जाता है' है।

यहां इन दोनों श्लिष्ट पदों के स्थान में यदि इन्हीं के समानार्थक शब्द रख दिये जायँ तब भी श्लेष ज्यों का त्यों बना रहेगा। इसीलिये इसे 'अर्थ-श्लेष' कहते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध अर्थ के साथ है, शब्द के साथ नहीं।

अप्रस्तुतप्रशंसा[1]

यदि अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ सूचित हो तो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार होता है।

यह अप्रस्तुत प्रशंसा पांच प्रकार की होती है—

१—अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति।

२—अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति।

३—अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रनीति।

४—अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति।

५—अप्रस्तुन तुल्य वस्तु से प्रस्तुत तुल्य वस्तु की प्रतीति।

लीनो राधा-मुख रचन, विधि ने सार तमाम।
तिहि मग होय अकाश यह, शशि मे दीखत श्याम ॥

(का० प्र०)

विधाता ने राधा के मुख की रचना के लिये चन्द्रमण्डल का सारा सार ले लिया जिस के कारण उस में आरपार छेद हो गया। यह जो चन्द्रमा में श्यामता दिखाई देती है, यह उस

---

१ प्रस्तुत लीन्हे होत जहँ, अप्रस्तुत परसंस।
अप्रस्तुत परसंस सो, कहत सुकवि अयतंस ॥

(भूषण)

छेद के रास्ते दिखाई देने वाली आकाश की श्यामता है।

यहां राधा जी के मुख का सौन्दर्य प्रस्तुत है, उसका वर्णन न करके उसके (सौन्दर्य के) कारण का वर्णन किया है। अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होने के कारण पहली अप्रस्तुत-प्रशंसा है।

इसी आशय की तुलसीदास जी की भी चौपाई है—

कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा।
सार भाग शशि कर ळीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर मांही।
तिहिं मगु देखिय नभ परछांही॥

आवत नित नियमित समय, बहु विधि देत असीस।
खाइ खरच निज गांठ को, कवि कृस भयौ महीस॥

(भा० भू०)

कोई कवि जी महाराज रोज़ राजदरबार में उपस्थित होकर राजा को आशीर्वाद दिया करते थे। परन्तु राजदरबार से उनका कोई सत्कार नहीं हुआ। यहां तक कि बेचारे को अपने ही पल्ले से खाना पड़ता था। आखिर जो कुछ पल्ले था वह भी खर्च हो गया। अब कवि जी को भोजन के भी लाले

पढ़ने लगे। चिन्ता और भूख के मारे शरीर कृश हो गया। कवि की ऐसी हालत देख कर मन्त्री ने राजा के सामने उपर्युक्त पद्य पढ़ा। जिस का तात्पर्य यही है कि महाराज को कवि जी का सत्कार करना चाहिये।

यहा 'कवि का सत्कार' प्रस्तुत है परन्तु उसे न कह कर 'नित्य नियत समय पर उपस्थित होकर आशीर्वाद देना' आदि उसके (सत्कार के) कारणों का वर्णन किया गया है। इसलिये यहां भी अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हुई है।

तव पद नख की दुति कछुक, गई धोय जल साथ।
तिहि कन मिल दधि मथत में, चन्द्र भयो है नाथ॥

हे नाथ! आपके चरण नख की कुछ कान्ति चरण धोते समय धुलकर जल में मिल गई। समुद्र मथन के समय आपकी चरण-नख-कान्ति के वे कण मिलकर 'चन्द्र' रूप से उत्पन्न हुए।

यहां भगवान् कृष्ण के चरणनखों का अलौकिक सौन्दर्य प्रस्तुत है, उसका वर्णन न करके उसके कार्य का वर्णन किया गया है। इसलिये यहा अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति हुई है।

गोपिन के अंसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर के बार॥

(विहारी)

यहां गोपियों का 'विरह' प्रस्तुत है उसका वर्णन न करके उसके कार्य अश्रुपात का वर्णन किया है। विरह से अश्रुपात हुआ ही करता है, इसलिये यहां भी अप्रस्तुत अश्रुपात कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण रूप विरह की प्रतीति हुई है।

फ़रजी साह न ह्वै सकै, गति टेढ़ी तासीर।
रहिमन सीधी चाल तें, प्यादा होत वज़ीर॥

यहां 'कुमार्ग पर चलने वाले उन्नति नहीं कर सकते और सुमार्ग पर चलने वाले कर सकते हैं' यह सामान्य बात प्रस्तुत है। परन्तु उसे न कह कर अप्रस्तुत विशेष शतरञ्ज के मोहरों का वर्णन किया है।

धरि कुरङ्ग को अङ्क मृग-लाञ्छन शशि नाम भो।
मृगगन हनत निशङ्क नाम मृगाधिप हरि लह्यो॥

यह बलदेव जी की कृष्ण भगवान् के प्रति उक्ति है। चन्द्रमा ने मृग को अपनी गोद मे बिठा कर यही फल पाया कि आज लोग उसे 'मृगलाञ्छन' कहते है अर्थात् वह मृग उसके

लिये कलङ्क रूप बना। परन्तु शेर निडर होकर मृगों को मारता है, दुनिया उसे मृगाधिप—मृगों का राजा-कहती है। यहां नम्र रहने वाले सदा अपयशोभागी होते हैं और क्रूरता दिखाने वाले सदा यशस्वी' यह सामान्य अर्थ प्रस्तुत है। उसे न कह कर चॉंद और शेर का अप्रस्तुत विशेष वृत्तान्त कहा है।

सहि अपमान जु रहत चुप, ता नर सों वर धूरि।
जो पादाहत झट उठत, चढत हतक सिर पूरि॥

यहां 'अपमान को चुपचाप सहने वाले तुम से' ठोकर खाकर सिर पर चढ़ने वाली धूल कहीं अच्छी है' यह विशेष प्रस्तुत है। परन्तु अप्रस्तुत सामान्य का वर्णन किया गया है।

धरैं न मन में सोच जे, वैर प्रवल सों ठानि।
सोवत आगि लगाय ते, सदन मॉंझ पट तानि॥

यहां सबल पुरुष से वैर ठान कर निश्चिन्त बैठने वाला कोई विशेष पुरुष प्रस्तुत है। परन्तु वर्णन सामान्य का किया गया है।

• मानस सलिल सुधा प्रतिपाली, जियइ कि लवन पयोधि मराली।
नव रसाल वन विहरन सीला, सोह कि कोकिल विपिन करीला॥

यहां भगवती सीता प्रस्तुत है परन्तु उनका वर्णन न करके उनके तुल्य अप्रस्तुत मराली और कोयल का वर्णन किया गया है।

रे कोकिल ! तू काटि कित, नीरस काल कराल।

जो लौं अलिकुल कलित नहिं, फूलै ललित रसाल॥

यहां भी विपत्तिग्रस्त कोई पुरुष प्रस्तुत है परन्तु उसका वर्णन न करके उसके समान विपत्तिग्रस्त कोयल का वर्णन किया गया है।

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद

सामासोक्ति मे प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा मे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की।

किसी २ आचार्य ने 'अन्योक्ति' नाम का पृथक् अलङ्कार माना है। परन्तु वस्तुतः वह अप्रस्तुतप्रशंसा के पाचवे भेद मे अन्तर्गत हो जाता है 'अन्योक्ति' शब्द का अर्थ है-अन्यस्य उक्तिः—अप्रस्तुत अर्थ का कथन। अर्थात् जहां अप्रस्तुत अर्थ के कथन से प्रस्तुततार्थ की प्रतीति हो उसे अन्योक्ति कहते हैं।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।

अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

(बिहारी)

यहां अप्रस्तुत अली कली के वृत्तान्त से प्रस्तुत नायक नायिका का वृत्तान्त प्रतीत होता है।

कोई कहते हैं कि जहां वक्ता किसी प्रस्तुतसदृश अप्रस्तुत व्यक्ति को सबोधन करके प्रस्तुतवृत्तान्तसदृश अप्रस्तुतवृत्तान्त का वर्णन करे वहा अन्योक्ति[1] अलङ्कार होता है।

उनके मत से 'अन्योक्ति' पद का अर्थ है—अन्यं प्रति अन्यस्य उक्ति—अर्थात् अप्रस्तुत के प्रति अप्रस्तुत का वर्णन।

*
नहिं पावस, ऋतुराज यह, सुनु तरुवर मति भूल।
अपत भए विन पाइ है, क्यों नव दल फल फूल॥
स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहग विचारि।
बाज पराए पानि परि, तूँ पछीन न मारि॥

इत्यादि इस के उदाहरण हैं।

प्रस्तुताङ्कुर[2]

जहां प्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत की प्रतीति हो, उसे 'प्रस्तुताङ्कुर' कहते हैं।

---

१ अन्योकति जह और प्रति, कहै और की बात। (लाल चन्द्रिका)
कहू सरिस सिर डारि कै, कहै सरिस सों बात॥ (अ० म०)

२ प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहां, प्रकट होत 'मतिराम'।
प्रस्तुत-अङ्कुर कहत हैं, तहा बुद्धि के धाम॥

अङ्कुर के सदृश होने से इस अलङ्कार का नाम प्रस्तुताङ्कुर रक्खा गया है। जैसे अङ्कुर पत्रपुष्पफलशाली एक विशाल वृक्ष का उत्पादक या उद्भावक होता है उसी तरह यहां भी एक प्रस्तुत अर्थ दूसरे प्रस्तुत अर्थ का अभिव्यञ्जक होता है।

उदाहरण जैसे—

सीत वात आतप सही, राखि तेरियै आस।
तऊ पपीहा की जलद, तैं न बुझाई प्यास॥

वर्षा ऋतु है। आकाश में बादल छाए हुए हैं। पपीहा बादलों की ओर मुंह खोले बैठा है। इधर कोई साध्वी स्त्री अपने प्रियतम के पास बैठी हुई बादल को पपीहे की ओर से उलहना दे रही है। यहां बादल के प्रति उपालम्भ (उलहना) प्रस्तुत है। उस के द्वारा प्रस्तुत प्रियतम के प्रति नायिका का उपालम्भ प्रतीत होता है। इसलिये प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार है।

कोई यहां कह सकता है कि बादल तो जड पदार्थ है, उस को चेतन की तरह संबोधित करना संगत नहीं होता इसलिये उस को (बादल को) अप्रस्तुत ही मानना चाहिये, अप्रस्तुत मानने से यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा का ही हो सकता है, प्रस्तुताङ्कुर का नहीं, इस शङ्का का समाधान

यह है—दुःखित हृदय व्यक्ति को 'यह संबोधन के योग्य है या अयोग्य' इस का कुछ विचार नहीं रहता । वह तो दु ख के आवेग में जो उसके मन में आता है कह बैठता है । भगवान् राम के विरह से व्याकुलहृदय सीता जी ने जड चन्द्रहास खड्ग और अशोक वृत्त को संबोधित किया था ।

चन्द्रहास ! हरु मम परितापा । रघुपति विरह अनल सतापा ॥
सुनहु विनय मम विटप असोका । सत्यनाम करु हरु मम सोका ॥

इसलिये उपर्युक्त पद्य में जलद को संबोधित करना असगत नहीं है । वह भी एक दुखिया की ही उक्ति है ।

अलि ! कदम्ब तरु पाय, सुमनभरो मकरद मय ।
तजि करील पै जाय, निरस अपत परसे कहा ॥

यहा भी प्रस्तुत भ्रमर के उपालम्भ से उत्तम वस्तु को त्यागकर क्षुद्र वस्तु पर मन दौड़ाने वाले किसी मनचले के प्रति उपालम्भ प्रतीत होता है, और वह भी प्रस्तुत ही है । यदि पूर्वोक्त उदाहरणों में बादल और भ्रमर को अप्रस्तुत ही माना जाय तब ये पञ्चम अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्योक्ति के ही उदाहरण माने जायँगे ।

सुवरन वरन सुवास जुत, सरस दलनि सुकुमार।
ऐसे चम्पक कों तजै, तैं ही भौर गंवार॥

(मतिराम)

इत्यादि भी प्रस्तुताङ्कुर के उदाहरण हैं।

श्रीयुत परिडतराज जगन्नाथ जी के मत से प्रस्तुताङ्कुर पांचवीं अप्रस्तुतप्रशंसा के ही अन्तर्गत है। उनके मत से अप्रस्तुत शब्द के दो अर्थ है—एक अत्यन्त अप्रस्तुत, दूसरा (प्रस्तुत होने पर भी) अमुख्य होने के कारण अप्रस्तुत। प्रस्तुताङ्कुर में जो प्रस्तुत प्रतीत होता है वही मुख्य है, क्योंकि कवि का इशारा विशेष रूप से उसी अर्थ को बताने में होता है और जिसका वर्णन किया जाता है वह अमुख्य होता है। अमुख्य होने के कारण प्रस्तुत होने पर भी वह अप्रस्तुत ही सा है।

पर्यायोक्त

जहां एक वस्तु एक रूप से व्यङ्ग्य हो दूसरे रूप से वाच्य हो, वहां 'पर्यायोक्त' अलङ्कार होता है। इसका दूसरा नाम 'पर्यायोक्ति' भी है।

उदाहरण जैसे—

कत भटकत गावत न क्यों, वाही के गुन गाथ।
जाके लोचन ही किये, विन वलयनि रति हाथ॥

यहां उत्तरार्ध में शिवरूप एक ही अर्थ 'कामदेवशत्रु'— इस रूप से व्यङ्ग्य है और 'अपने लोचन से रति के हाथों को कङ्कणरहित वनाने वाला' इस रूप से वाच्य है। स्त्रिया हाथ से कङ्कण तभी उतारती हैं जब वे विधावा हो जाती हैं। कामदेव के मर जाने से रति भी विधवा हो गई थी, इसलिये उसके हाथ भी कङ्कणरहित हो गए। रति को विधवा करने वाला शिव जी का तृतीय लोचन था। इस प्रकार 'कामदेवशत्रु या कामदेव को मारने वाला' यह अर्थ उत्तरार्ध वाक्य से व्यञ्जित होता है। दूसरा उदाहरण—

जाके लोचन करत हैं, कुवलय-कञ्ज-प्रकाश।

सो भाऊ भूपाल के, करत हिये नित वास॥

यहा पूर्वार्ध में 'विष्णु भगवान्' रूप एक ही अर्थ 'चन्द्र-सूर्यरूपनेत्रधारी—चन्द्र सूर्य जिसके नेत्र हैं' इस रूप से व्यङ्ग्य है और 'अपने लोचनों से कुमुदों और कमलों को विकसित करने वाला' इस रूप से वाच्य है।

चॉद से कुमुद खिलते है और सूरज से कमल। चॉद और सूरज दोनों भगवान् विष्णु के नेत्र माने गए हैं। इस प्रकार पूर्वार्ध वाक्य से 'चन्द्रसूर्यरूपनेत्रधारी' यह अर्थ व्यञ्जित हो जाता है।

प्राचीन आलङ्कारिकों ने पर्यायोक्त का लक्षण यों किया है-

गम्य अर्थ प्रगटै जहां, और वचन रचनानि ।
बरनत पर्यायोक्ति तहँ, कविजन ग्रंथन जानि ॥

(मतिराम)

अर्थात् जहां गम्य-व्यङ्ग्य-अर्थ को किसी दूसरे ढङ्ग से बता दिया जाय, वहां 'पर्यायोक्त' अलङ्कार होता है।

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में 'कामदेवशत्रु' और 'चन्द्रसूर्य-रूपनेत्रधारी' दोनों व्यङ्ग्य दूसरे ढङ्ग से बताए गए हैं।

कविवर भगवानदीन जी का पर्यायोक्त' का लक्षण—

'कछु रचना सों बात'

अर्थात् 'जो बात कहनी हो उसे सीधे शब्दों में न कहकर कुछ घुमा फिरा कर कहना'। प्रथम उदाहरण में वक्ता यह कहना चाहता है कि शिव जी के गुणों का गान करना चाहिये। परन्तु इस अभिप्राय को वह सीधे शब्दों में प्रकट नहीं करता, किन्तु घुमा फिराकर कहता है—'अपने नेत्रों से रति के हाथों को कङ्कणरहित बनाने वाले के गुणगान करो।' इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'भाऊ नृपति हरिभक्त है' इन सुबोध शब्दों में अपने अभिप्राय को प्रकट न करके—'जो अपने नेत्रों से कुमुद और कमलों को विकसित करता है वह सदा भाऊ नृपति के हृद य में निवास करता है' इस प्रकार हेर फेर से कहता है।

पण्डितराज जगन्नाथकृत पर्यायोक्त का लक्षण

घिवेक्षित अर्थ का किसी दूसरे ढङ्ग से वर्णन करना पर्यायोक्त कहलाता है। अर्थात् वर्णनीय वस्तु को जिस रूप से वर्णन करने की इच्छा हो उससे अतिरिक्त रूप से उस का वर्णन करने में पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। उदाहरण—

"सूर्य और चन्द्रमा अपने करों से जिन के वस्त्र को रगते हैं, अग्नि स्वय जिन के लिये अङ्गराग तय्यार करता है, उस परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हू।"

यहा पहले वाक्य में वक्ता भगवान् शङ्कर को 'दिगम्बर' रूप से वताना चाहता है। परन्तु उसके लिये वह 'दिगम्बर' शब्द का प्रयोग न करके कहता है—'जिन के वस्त्र को सूर्य और चन्द्रमा अपने करों (किरणों) से रंगते हैं।' इसी प्रकार दूसरे वाक्य में वक्ता श्री शङ्कर को 'भस्माङ्गराग'— इस रूप से वर्णन करना चाहता है। परन्तु उस को वह

---

१ विवक्षितस्य अर्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादन पर्यायोक्तम्।
येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तद्व्यतिरिक्त प्रकारो भङ्ग्यन्तरम्॥

पण्डितराजजगन्नाथः।

२ सूर्य और चन्द्रमा अपनी किरणों से दिशाओं को रञ्जित करते ही हैं। दिशा ही भगवान् शङ्कर के वस्त्र हैं, इसीलिये उन्हें दिगम्बर कहा जाता है।

३ भस्म ही जिन का अङ्गराग है—शरीर में भस्म रमाने वाले।

'भस्माङ्गराग' न कहकर 'आग जिन के लिये अङ्गराग तय्यार करती है' इस नए ढङ्ग से वर्णन करता है।

दूसरा पर्यायोक्त[1]

जहां किसी बहाने से इष्ट (इच्छित) वस्तु का साधन किया जाय, वहां द्वितीय 'पर्यायोक्त' होता है।

उदाहरण—

नाथ लखन पुर देखन चहहीं, प्रभु सँकोच डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर अनुसासन पाऊँ, नगर दिखाय तुरत लै आऊँ॥

(रा० मा०)

यहां भगवान् राम को स्वयं जनकपुर देखने की इच्छा है, परन्तु उन्होंने लक्ष्मण की इच्छा का बहाना करके आज्ञा मांगी।

पुरबालक कहि कहि मृदु वचना, सादर प्रभुहिं दिखावहिं रचना।
सब शिशु यहि मिस प्रेम वश, परसि मनोहर गात।
तनु पुलकहिं अति हर्ष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात॥

जनकपुरी के बालक भगवान् राम के मनोहर गात को

---

१ मिस करि कारज साधिये, दूजो भेद विशाल।
तुम दोऊ बैठो यहा, जात अन्हावन ताल॥
(का० प्र०)

स्पर्श करना चाहते हैं, पर करें तो कैसे करें । चक्रवर्ती राजकुमार के शरीर का स्पर्श करना कोई सहज बात नहीं । आखिर उन्होंने नगर की अद्भुत रचनाओं को दिखाने के बहाने से उनके गात का स्पर्श कर ही तो लिया ।

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै भौंहनि हसै, दैन कहै नटि जाइ ॥

यहां भी राधिका जी ने मुरली लुकाने के बहाने से श्रीकृष्ण जी के साथ वार्तालाप रूप इष्ट अर्थ का साधन किया ।

बैठि रसालन डारि कूजत पिक अलिकुल बहा ।
आवैं ताहि निहारि तुम दोऊ रहियो इतै ॥

पगी प्रेम नँदलाल के, भरन आपु जल जाइ ।
घरी घरी घर के तरै, घरनि देत ढरकाइ ॥

यहां भी बहाने से अभिलषित अर्थ की सिद्धि की गई है ।

व्याजस्तुति

जहाँ निन्दा से स्तुति की और स्तुति से निन्दा की प्रतीति हो, वहां व्याजस्तुति होती है ।[1]

---

1 निन्दा में स्तुति पाइये, स्तुति में निन्दा होय ।
व्याजस्तुति सो कहत हैं, कवि कोविद सब कोय ॥ (मतिराम)

एक दिएँ जहँ कोटिक होत हैं सो कुरुखेत में जाइ अन्हाइय।
तीरथ राज प्रयाग बड़े मन वाञ्छित के फल पाइ अघाइय॥
श्री मथुरा वसि 'केसवदास जू' द्वै भुज ते भुज चार ह्वै जाइय।
कासी पुरी की कुरीति बुरी जहं देह दिएँ पुनि देह न पाइय॥
(केशवदास)

यहां चतुर्थ पाद में काशीपुरी की निन्दा की गई है। परन्तु इस निन्दा से 'काशी पुरी मोक्षदायिनी' है–यह स्तुति प्रतीत होती है। क्योंकि मोक्ष हो जाने पर ही फिर देह (जन्म) नहीं मिलता।

तन, मन, बचनों से अर्चना जो तुम्हारी,
निशिदिन करता है श्याम तू हा! उसी की।
जनम-जनम की है देह को छीन लेता,
अयि नटवर! तेरे ढङ्ग ये हैं न अच्छे॥

यहां अपने भक्तों का शरीर छीन लेने से भगवान् कृष्ण की निन्दा की गई है। परन्तु इस निन्दा से 'कृष्ण जी अपने भक्तों को मोक्ष देते हैं' यह स्तुति ही प्रतीत होती है।

भसम जटा विष अहि सहित, गङ्ग कियो तैं मोहि।
भोगी तैं जोगी कियो, कहा कहौं अब तोहि॥

'हे गङ्गे! तूने तो मुझे भस्मजटासर्पधारी बना दिया' ऐसा कहने से यद्यपि गङ्गा की निन्दा जैसी प्रतीत होती है तथापि

यह स्तुति है। क्योंकि भस्मजटासर्पधारी बनाने से यहां 'शङ्कर' बना दिया--यह तात्पर्य है।

सेमर! तेरो भाग्य यह, कहा सराह्यो जाय।

पक्षी करि फल आश जो, तुहि सेवत नित आय॥

यहा सेमर वृक्ष की स्तुति की गई है। परन्तु इस स्तुति से उसकी निन्दा ही प्रतीत होनी है। क्योंकि पक्षियों की फल की आशा उस से पूरी नहीं होती। इसी प्रकार--

'हे समुद्र तुम बडे परोपकारी हो जो पथिकों को प्यासा मारने के पाप में मरुस्थल का हाथ बटा कर उसका बोझ हलका करते हो।'

यहा भी परोपकारी कहने से समुद्र की स्तुति की गई है। परन्तु इस स्तुति से उसकी निन्दा प्रतीत होती है। क्योंकि वह भी खारा होने के कारण मरुस्थल की तरह प्यासों की प्यास नहीं बुझा सकता।

दूसरी व्याजस्तुति

जहां एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति प्रतीत हो, वहां दूसरी व्याजस्तुति होती है।

---

१ कीन्हें पर अस्तुति जहा, पर अस्तुति दरसाय।

ताहू को व्याजस्तुतै, कहैं कविन के राय॥ (अ० म०)

उदाहरण—

या बृन्दावन विपिन मे, बड़भागी मम कान।

जिन मुरली की तान सुनि, किय हर्षित अँग आन॥

यहां अपने कानों की स्तुति से मुरली की तान की स्तुति प्रतीत होती है।

व्याजनिन्दा[1]

जहां एक की निन्दा से दूसरे की निन्दा प्रतीत हो वहां व्याजनिन्दा होती है।

उदाहरण—

निन्दनीय सोइ काम ! जिन तनु जारयो तुव न वल।

हे काम ! वही शङ्कर जी महाराज निन्दनीय हैं, जिन्होंने तुम्हारे शरीर को तो जला दिया परन्तु तुम्हारे वल को नहीं जलाया। यहां शङ्कर की निन्दा से सकल संसार को उच्छृङ्खल वनाने वाले कामदेव की निन्दा प्रतीत होती है।

आक्षेप

किसी विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के लिये जहां

---

१ निन्दा सों जहँ और की, निन्दा प्रगटित होय।

तहाँ व्याज निन्दा कहत, कवि कोविद सब कोय॥ (मतिराम)

विवक्षित वस्तु का निषेध सा किया जाय, वहां आक्षेप अलङ्कार होता है ।

दै मृदु पाँयन जावक को रँग, नाह को चित्त रँगै रँग जातैं ।
अंजन दै करौ नैननि मे, सुखमा वढि स्याम सरोज-प्रभा तैं ॥
सोने के भूषन अङ्ग रचौ, मतिराम' सवै वस कीवे की घातैं ।
यौं ही चलौ न सिंगार सुभावहिं, मैं सखि भूलि कही सब बातैं ॥

यहां पहले तीन चरणों में शृङ्गार करने को कहा गया है परन्तु चतुर्थ में नायिका के सौन्दर्य का अतिशय (आधिक्य) बताने के लिये शृङ्गार करने का निषेध सा किया है । वास्तव मे निषेध में तात्पर्य नहीं है ।

रे खल ! तेरे चरित कछु, कहि हौं विदुषन जापि ।
अथवा तेरी हत-कथा, कथन न उचित कदापि ॥

यहा भी यद्यपि खल चरित्र विवक्षित है तथापि 'खल चरित्र की कथा भी दु खदायी है' इस विशेष अभिप्राय को बताने के लिये उत्तरार्ध में उसका निषेध कर दिया है ।

हौं न कहत, तुम जानि हौ, लाल ! वाल की बात ।
अँसुवा-उडगन परत हैं, होन चहै उत्पात ॥

मैं नायिका की विरह व्यथा स्वयं नहीं कहती । तुम अपने आप जान लोगे । हाँ, इतना कहे देती हूं—आसू रूपी तारे टूट

रहे हैं। कुछ उत्पात होने वाला है। यहां उत्तरार्ध में विवक्षित बात कह तो दी है, परन्तु विरह वेदना की अकथनीयता बताने के लिये 'हौं न कहत' इस वाक्य से उसका निषेध किया है।

द्वितीय आक्षेप

जहां अनिष्ट अर्थ की विधि (आज्ञा) तो स्पष्ट हो परन्तु उसमें निषेध छिपा हुआ हो, वहां द्वितीय आक्षेप होता है।

इसका दूसरा नाम व्यक्ताक्षेप भी है। क्योंकि इसमें आक्षेप (निषेध) व्यक्त—व्यङ्ग्य रहता है।

"हे नाथ! आपकी यात्रा मेरे लिये अधिक काल तक दुःखदायी नहीं होगी। यदि आप जाते हैं तो जाइये। आपको शङ्का नहीं करनी चाहिये।"

यहां नायिका को नायक का गमन अनिष्ट है। उसकी विधि 'जाइये' पद से स्पष्ट है। परन्तु 'आप की यात्रा मेरे लिये' इत्यादि वाक्य के द्वारा भावी मृत्यु की सूचना से गमन का निषेध व्यञ्जित होता है।

---

१ करिवे की आज्ञा प्रगट, छिप्यो निषेध जु होय।
व्यक्ताक्षेप कहैं तहा, कवि कोविद सब कोय॥ (अ० म०)

जाहु जाहु परदेश पिय, मोहि न कछु दुःख भीर।
लहहु ईश ते विनय करि, मैं हू तहा शरीर ॥

इसी प्रकार यहा भी 'जाहु जाहु' पदों से विधि स्पष्ट है। उत्तरार्ध से भावी मृत्यु की सूचना द्वारा निषेध प्रतीत होता है।

विरोध[1]

जहां विरोध न होने पर भी विरोध सा प्रतीत होता हो उसे 'विरोध' अलङ्कार कहते हैं। इसका दूसरा नाम विरोधाभास भी है।

यह दस प्रकार का होता है—

(१) द्रव्य[2] का द्रव्य से विरोध।

(२) द्रव्य का गुण से।

(३) द्रव्य का क्रिया से।

---

१ वहै विरोधाभास, भासै जहा विरोध सौं।
वा मुख चन्द्र प्रकाश, सुधि आए सुधि जात है॥

२ जो शब्द केवल एक व्यक्ति का बोधक होता है, उसे 'द्रव्य-वाचक' शब्द कहते हैं। द्रव्यवाचक शब्द का अर्थ द्रव्य कहलाता है। जैसे-सूर्य, चन्द्र, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि शब्द एक एक व्यक्ति के ही वाचक हैं, इसलिए द्रव्य शब्द हैं, इनके अर्थ सूर्य आदि पदार्थ 'द्रव्य' हैं।

(४) द्रव्य का जाति से ।

(५) गुण का गुण से ।

(६) गुण का क्रिया से ।

(७) गुण का जाति से ।

(८) क्रिया का क्रिया से ।

(९) क्रिया का जाति से ।

(१०) जाति का जाति से ।

दच्छिन नायक एक तुही भुव-भामिनि कों अनुकूल ह्वै भावै ।
दीन-दयाल न तो सो गुनी अरु म्लेच्छ के दीन हिं मारि मिटावै ॥
श्री शिवराज ! अनेक विभूषन तेरे सरूप को कोउ न पावै ।
सूर के वंस मैं सूरसिरोमनि ह्वै करि तू कुलचन्द कहावै ॥

यहां सूर्य और चन्द्र द्रव्य हैं। इन का परस्पर विरोध है। क्योंकि एक ही व्यक्ति सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं हो सकता।

गोवरधन हरुओ भयो, जिन के प्रबल प्रताप ।
झुक्यो माथ सुरराज को, सो हरि हरु मम ताप ॥

यहां गोवर्धन गिरि का हलका होना बताया गया है, जो

---

१ जो वस्तु नित्य हो और अनेक पदार्थों मे नित्य-सम्बन्ध से रहती हो, उसे जाति कहते हैं। जैसे—घटत्व, पटत्व आदि धर्म । घटत्व नित्य है और अनेक घटो मे नित्य-सम्बन्ध से रहता है, ऐसे ही पटत्व भी ।

विरुद्ध है। क्योंकि पर्वत हलका नहीं होता। गोवर्धन द्रव्य है। हलकापन गुण है। इसलिये यहा द्रव्य का गुण से विरोध है।

करहिं भजन पूजन सदा, करहिं न फल की आस।

तिन हरि-जन घर चञ्चला, करहिं निरन्तर वास॥

यहा चञ्चला (लक्ष्मी) एक व्यक्ति होने के कारण द्रव्य है। उस का 'निरन्तर निवास' क्रिया से विरोध है।

तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।

यहां तृण जाति है और कुलिश (वज्र) द्रव्य है। इन दोनों का परस्पर विरोध है। कुलिशत्व और तृणत्व धर्म दोनों एक जगह नहीं रह सकते।

मोहि निपट मीठी लगै, यह तेरी कटु वोल।

यहा मिठास और कडुवापन इन दोनों गुणों का विरोध है।

कितो मिठास दियो दई, इते सलोने रूप।

यहा भी मिठास और सलोनापन (खारापन) गुणों में परस्पर विरोध है। 'सलोने' पद का 'सुन्दर' अर्थ मान लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

चरन कमल वन्दौं हरि राई।

जाकी कृपा पङ्गु गिरि लङ्घै, अंधे को सब कुछ दिखराई।

बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रङ्क चलै सिर छत्र धराई॥

सूरदास स्वामी करुनामय, वार वार वन्दौ तेहि पाई ।

यहां पङ्गुता (लंगड़ापन), अन्धता, वहिरापन, गूंगापन, ग़रीवी—इन गुणों का क्रमश पहाड़ को लांघना, दिखाई देना, सुनना, वोलना, छत्र धारण करना-इन क्रियाओं से विरोध है ।

पवन अचल गिरि रेनु पुनि, जलधि नहीं गभीर ।

धरा अति हि लघु होति है, कृपा दृष्टि रघुवीर ॥

यहां पवन जाति का अचलत्व गुण से और समुद्र जाति का अगम्भीरता गुण से विरोध है । क्योंकि पवन सदा चलने वाला है और समुद्र में सदा गम्भीरता रहती है ।

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रङ्ग ।

अनवूड़े वूड़े तिरे, जे वूडे सव अङ्ग ॥

यहां तिरना और वूड़ना (डूवना) क्रिया का परस्पर विरोध है ।

मारयौ मनुहारनि भरी, गारयौ खरी मिठाहिं ।

वाको अति अनखाहटौ, मुसक्याहट विन नाहिं ॥

(विहारी)

उसकी मार में भी प्यार भरा हुआ है । गालियों (कडुवे शव्दों) में भी मिठास है । उसका अनखाना (क्रोध करना) भीविना मुस्कराहट के नहीं है । यहां पहले पाद में क्रिया

और गुण का विरोध है। मारना क्रिया है, प्यार (स्नेह) गुण है। दूसरे पाद में गुण से गुण का विरोध है। उत्तरार्ध में क्रोध करना क्रिया का मुस्कराना क्रिया से विरोध है।

किन्तु सन्त संगति तरनि, इतर सुकृत खद्योत।
होत हेम पारस परसि, लोह तरत लगि पोत॥

यहा 'लोह' जाति का 'तैरना' क्रिया से विरोध है। लोहा कभी तैर नहीं सकता।

सिन्धु होइ जल बिन्दु, इन्दु-सम होइ दिवाकर।
अनल कमल का फूल, तूल सम होइ धराधर॥
माहुर मधुर समान, भूप भ्राता जिमि जानै।
सत्रु होइ निज दास, लोक आज्ञा सब मानै॥
अरु पाप होइ हरि जाप सम, को दुराइ नहिं भूपरै।
आनन्दकन्द ब्रजचन्द जब, करुना निधि किरपा करै॥

(रामदयालु नेवटिया)

यहा सिन्धु का जल बिन्दु से, अनल का कमल से विरोध है। जाति का जाति से विरोध है। क्योंकि सिन्धुत्व आदि जातियां हैं।

विभावना

कारणसामग्री से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—यह

दर्शनशास्त्र का नियम है। परन्तु 'विभावना' मे लोकप्रसिद्ध कारण के अभाव में भी किसी अप्रसिद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति बताई जाती है। 'विभावना' शब्द का अर्थ भी यही है कि—विभाव्यते विचार्यते प्रसिद्धकारणातिरिक्तं कारणं यत्र—अर्थात् जहां कार्य की उत्पत्ति में प्रसिद्ध कारण से अतिरिक्त कारण का विचार किया जाय, उसे विभावना कहते हैं। हाँ, इतना अवश्य है—जिस अप्रसिद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हुई है, उसका निर्देश करना आवश्यक नहीं है। उसका निर्देश हो भी सकता है, नहीं भी। किन्तु प्रसिद्ध कारण के अभाव का निर्देश अवश्य करना पड़ता है। प्रसिद्ध कारण का अभाव कई प्रकार से बताया जा सकता है—कहीं कारण का बिलकुल निषेध करके, कहीं कारण सामग्री मे कमी बताकर-इत्यादि। इस प्रकार विभावना के अनेक भेद हो जाते हैं। प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण क्रमशः आगे देखिए।

प्रथम विभावना[1]

कारण के अभाव में भी यदि कार्य की उत्पत्ति बताई जाय, तब विभावना अलङ्कार होता है।

---

१ भयो काज बिन हेतु ही, बरनत हैं जेहि ठौर।
तहँ विभावना होति है, कवि भूषण सिर मौर॥ (भूषण)

साहितनै सिवराज की, सहज टेव यह ऐन।

अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे अरि सैन॥ (भूषण)

यहां रीझना और खीझना कारणों के विना भी दरिद्रता-हरण और शत्रु सेना का नाश रूप कार्य की उत्पत्ति कही गई है। इसलिये विभावना है।

विनु पद चलै सुनै विनु काना। कर विनु कर्म करै विधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी। विन वाणी वक्ता बड जोगी॥

(रा० मा०)

चलहु सिंगार कहा करो, सहज हरो मन मैन।

ऐसे ही नीके लगैं, विन काजर के नैन॥ (रा० स०)

नैनों की शोभा का कारण 'काजर' है। परन्तु उसके विना भी यहा नैनों की शोभा बताई है।

दूसरी विभावना[1]

कारण-सामग्री अधूरी होने पर भी कार्य की उत्पत्ति में 'दूसरी विभावना' होती है।

काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने वस कीन्हें॥

---

1 थोरे हेतुनि सौं जहा, प्रगट होत है काज।

तहँ विभावना औरऊ, वरनत बुद्धि-जहाज॥ (मतिराम)

यद्यपि धनुष और बाण सकल भुवन को वश में करने के हेतु हैं, परन्तु कामदेव के धनुष बाण फूलों के हैं, बांस आदि के बने हुए नहीं हैं। इसलिये कारण सामग्री पूरी नहीं है, अधूरी है।

तिय कित कमनैती पढ़ी, विनु जिहि भौह कामना।
चित वेधति चूकति नहीं, बङ्क विलोकनि बाम ॥ (विहारी)

यहां लक्ष्य वेधन की सामग्री पूरी नहीं है। धनुष विना डोरी का है, दृष्टि भी लक्ष्य पर सीधी नहीं पड़ रही है, फिर भी लक्ष्य वेध हो जाता है।

तीसरी विभावना

कार्योत्पत्ति का प्रतिबन्धक विद्यमान हो और फिर भी कार्य की उत्पत्ति हो जाय तो 'तृतीय विभावना' होती है।[1]

तेरे प्रताप रवि का नृप ! तेज जो कि,
लोकातिरिक्त सुप्रसिद्ध चरित्र क्योंकि।
जो हैं अछत्र उनका यह ताप हारी,
हैं छत्र धारित उन्हे अति तापकारी ॥

छाता सूर्य की गर्मी का प्रतिबन्धक है। परन्तु इस राजा

---

१ जहा हेतु प्रतिबध हू, बरनत प्रगटै काज।
बरनत और विभावना, तहँ कविराज-समाज ॥ (मतिराम)

का प्रताप-सूर्य अनोखा ही है कि छत्रधारियों (छत्र धारण करने वाले राजाओं) को भी संतप्त करता है।

लाल तिहारे नैन-सर, अचिरज करत अचूक।

विन कञ्चुक छेदै करै, छाती छेदि छटूक॥ (मतिराम)

यहा कञ्चुक रूप प्रतिवन्धक के रहते हुए भी छेदन क्रिया हो गई, इसलिये तीसरी विभावना है।

चतुर्थ विभावना[1]

अकारण से कार्य की उत्पत्ति को 'चतुर्थ विभावना' कहते हैं।

भयो कम्वु ते कञ्ज इक, सोहत सहित विकार।

देखहु चम्पक की लता, देत गुलाव सुवास॥

यहां कम्वु (शङ्ख) से कंज (कमल) की उत्पत्ति वताई है, परन्तु कम्वु कञ्ज का हेतु नहीं है। चम्पकलता से गुलाव का गन्ध नहीं आता।

यहा कम्वु, कञ्ज और चम्पकलता से नायिका की ग्रीवा, मुख और शरीर लिये गये हैं।

---

1 हेतु काज को जो नहीं, तातें काज उदोत।
यासौं और विभावना, कहत सकल कविगोत॥ (मतिराम)

हँसत बाल के बदन मैं, यौं छवि कछू अतूल।
फूली चम्पक बेलि तैं, झरत चमेली फूल ॥ (मतिराम)

कविवर मतिराम जी के इस पद्य में भी चतुर्थ विभावना है।

चम्पा की वेल चमेली के फूल का कारण नहीं है। यहां चम्पा की बेल नायिका का शरीर है। नायिका का हास चमेली के फूल हैं। इतनी बात यहां ध्यान में रहनी चाहिये कि चतुर्थ विभावना का मूल प्रायः रूपकातिशयोक्ति है। रूपकातिशयोक्ति में उपमान से ही उपमेय का बोध होता है। उसमें उपमेय का ग्रहण नहीं होता। देखो पृ० १२९। यहां भी दोनों उदाहरणों में कम्बु आदि उपमानों का ही ग्रहण है, उपमेय का नहीं।

पञ्चम विभावना

जहां विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो, वहां 'पञ्चम विभावना' होती है।

तुव मुख रवि बालातप जु, मरुनायक जसवन्त।
अन्य नृपन के कर कमल युत संकोच करन्त ॥

---

1 वरनत हेतु विरोध ते, उपजत हैं जहँ काज।
तहँ विभावना औरऊ, वरनत कवि सिरताज ॥ (मतिराम)

सूर्य कमलों को विकसित करता है न कि संकुचित। इस-लिये सिद्ध हुआ कि सूर्य कमल-संकोच के विरुद्ध है। परन्तु यहां कमल-सकोच के विरुद्ध सूर्य से कमल-संकोच वताया गया है।

तुम सौतिनि देखत दई, अपने हिय तें लाल।
फिरति सवनि में डहडही, उहै मरगजी माल॥

यहां भी मरगजी-मुरझाई हुई-माला से डहडहाना—हराहोना विरुद्ध कार्य उत्पन्न हुआ है।

आनन ऐन सुधा को हहा तेहि ते इतनो विसवैन वके तू।

यहा भी सुधा का आश्रय आनन विषोत्पत्ति के विरुद्ध है। परन्तु उससे विष की उत्पत्ति वताई गई है।

षष्ठ विभावना[1]

कार्य से कारण की उत्पत्ति को 'षष्ठ विभावना' कहते हैं।

ललन चलन की वात सुनि, दहक दहक हिय जात।
दृग सरोज से निकसि अलि! सलिल प्रवाह वहात॥

जल में सरोज पैदा होता है, इसलिये जल सरोज का कारण है और सरोज कार्य है। परन्तु यहां कार्य रूप सरोज से कारण रूप जल प्रवाह की उत्पत्ति वताई है।

---

1 जहाँ काज ते हेतु कौ, वरनत प्रगट प्रकास।
तँह विभावना औरऊ, वरनत वुद्धि विलास॥ (मतिराम)

रमन गमन सुनि सखिन तन, तकि न कहति कछु बार।
नैननि इन्दीवरनि ते, वहति कलिन्दीधार ॥ (रा० म०)

यहां कमलों से कलिन्दी (यमुना) की उत्पत्ति बताई है। जमुना जलरूप होने से कमलों का कारण है, कमल कार्य हैं। कार्य से कारणोत्पत्ति बताने के कारण षष्ठ विभावना है। नायिका की आंखों में कज्जल आँजा हुआ था, वह भी आंसुओं के साथ मिल गया, इसलिये श्याम गुण सादृश्य से अश्रुधारा को 'कलिन्दीधार' कहा।

भयौ सिंधु तें बिधु सुकवि, बरनत बिना विचार।
उपज्यौ तो मुख इन्दु तें, प्रेम-पयोधि अपार ॥ (मतिराम)

यहां चन्द्र कार्य से समुद्र कारण की उत्पत्ति बताई गई है।

विभावना और विरोध का भेद

'विभावना' में कारण का अभाव कार्योत्पत्ति का विरोधी (बाधक) होता है। परन्तु 'विरोध' में दोनों पदार्थ एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

विशेषोक्ति

कारण-सामग्री की विद्यमानता में भी यदि कार्य की अनुत्पत्ति बताई जाय तो 'विशेषोक्ति' होती है।

---

१ जहँ परि पूरन हेतु ते, प्रगट होत नहिं काज।
विशेषोक्ति तहँ कहत है, सकल सुकवि सिरताज (मतिराम)

उदाहरण जैसे—

सब नद नदियों का नीर धारा प्रवाही,
वहकर मिलता है सिन्धु में सर्वदा ही।
तदपि न तजता है आत्म-मर्याद सिन्धु,
सुविपुल सुख में भी गर्व लेते न साधु ॥

मर्यादा-त्याग की कारण-सामग्री होने पर भी समुद्र मर्यादा का त्याग नहीं करता। चतुर्थ पाद में अर्थान्तरन्यास भी है। लक्षण आगे देखिए।

नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिक नहीं, रोग जाहिं हरि-जान ! ॥

(रा० म०)

यहां 'नेम धरम' आदि करोड़ों ओषधियों से भी मानस रोग की अनिवृत्ति बताई गई है।

कदन कियो हर मदन-तन, तउ न लियो वल छीन।
सुमन—शरन इकलो अहो ! त्रिभुवन करत अधीन ॥

महादेव जी ने यद्यपि कामदेव को भस्म कर दिया तथापि उसके वल को नहीं छीना। शरीर का नाश वल के नाश का हेतु है। यहां शरीर नाश रूप हेतु तो विद्यमान है, परन्तु वलनाश रूप कार्य की अनुत्पत्ति वताई गई है।

चन्दन चूर कपूर घसि, अरु कपूर लपटाइ ।
आब गुलाब सुलाब किय, तऊ न ताप बुझाइ ॥

(वि० म०)

पियत रहत पिय नैन यह, तेरी मृदु मुसुकानि ।
तऊ न होति मयङ्क मुखि, तनक प्यास की हानि ॥

(मतिराम)

यहां भी विशेपोक्ति है ।

विभावना और विशेपोक्ति का भेद

विभावना मे कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति बताई जाती है । विशेपोक्ति में कारण होने पर भी कार्य का अभाव होता है ।

विशेपोक्ति और विरोध का भेद

विशेपोक्ति मे कारण की सत्ता कार्य की अनुत्पत्ति की विरोधिका (वाधिका) होती है । विरोध में दोनों परस्पर एक दूसरे के विरोधी (वाधक) होते हैं ।

प्रथम असङ्गति

यदि कारण और कार्य की स्थिति भिन्न भिन्न अधि-

---

1 होत हेतु जहँ और थल, काज और थल होय ।
तहा असँगति कहत है, कवि रस बुद्धि समाय ॥ (मतिराम)

करणों (आधारों) में बताई जावे तब 'असङ्गति' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

मो अखियन गडि गई गसीली, पिय चितवनि अनियारी ।
किरकिरात पै नैन तिहारे था, मति पै बलिहारी ॥ (वियोगी हरि)

जिसकी आख में गास गड़ी है उसी की आंख किरकिरानी चाहिये। परन्तु यहा गास गड़ना रूप कारण और जगह रहता है और उसका कार्य किरकिराना दूसरी जगह । इसलिये यह असंगति है।

जिन वीथिन विहरैं सब भाई। थकित होंहि सब लोग लुगाई ॥
(रा० मा०)

विहार करना थकने का कारण है, थकना विहार का कार्य है। कारण और कार्य एक जगह रहा करते हैं। जो विहार करेगा वही थकेगा भी। परन्तु यहा ऐसा नहीं है। यहा तो विहार करते हैं राम आदि चारों भाई और थकते हैं लोग और लुगाई।

तुमने पैरों पर लगाई मेंहँदी, मेरी आखों मे समाई मेंहँदी ।
खूनी होते हैं जगत् के सब्ज रग, दे रही है यह दुहाई मेंहँदी ॥
(भगवानदीन)

यहां पूर्वार्ध में असंगति है। जहां मेहँदी लगी है, वहीं उसे समाना चाहिये अर्थात् लाली पैदा करनी चाहिए। परन्तु यहां पैरों में लगी आँखों में समाती है।

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर संग प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति (विहारी)

ज्यौं ज्यौ चन्दन को ललन, लेपत हौ निजगात।
त्यौं त्यौ ललना के नयन, तकि तकि अति सियरात॥
(रा० स०)

इत्यादि भी असंगति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

दूसरी असङ्गति[1]

जो कार्य किसी और जगह करने योग्य हो परन्तु उसे उस जगह न करके किसी दूसरे ही स्थान में किया जाय, तब भी 'असङ्गति' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

नृप! तव अरि रमणीन के, चरित विचित्र लखाहिं।
नयनन ढिग कंकण धरैं, तिलक धरैं कर माहिं॥

---

१ और ठौर करनीय जो, करत और ही ठौर।
वरनत सब कविराज हैं, यहो असगति और॥ (मतिराम)

हे राजन् ! तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के चरित्र अनोखे हैं। वे अपने नेत्रों में तो कङ्कण (कङ्‌ और कं[1] कण-जलविन्दु) धारण करती हैं और हाथों में तिलक (टीका और तिल + क-तिलमिश्रित जल) लगाती हैं। अर्थात् शत्रुओं के मर जाने पर उनकी स्त्रिया रोती हैं और उन्हें तिल मिले हुए जल की अजली देती हैं। कङ्कण हाथ में और तिलक मस्तक पर धारण किया जाता है। परन्तु यहा कङ्कण को नेत्र के समीप और तिलक को हाथ में वताया है।

तीसरी असंङ्गति[2]

जिस कार्य को करने का उद्यम हो यदि उस के विरुद्ध कार्य किया जाय तो भी असङ्गति अलङ्कार होता है।

मोह मिटावन हेत प्रभु, लीन्हों तुम अवतार।

उलटो मोहन रूप धरि, मोहीं सब व्रजनार॥

ससार का मोह (अज्ञान) मिटाने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अवतार धारण किया। परन्तु इस के विपरीत

---

१ 'क' शब्द का 'जल' अर्थ भी है।

२ करन लगै जो काज कछु, ताते करै विरुद्ध।

यहौ असगति कहत हैं, कवि मतिराम विबुद्ध॥

उन्होंने व्रज गोपिकाओं को मोह लिया अर्थात् उन के हृदय में अपना मोह (प्रेम) उत्पन्न कर दिया।

यह ऊलट कासौ कहौ, निकट सुनाइ सुवैन।
आए जीवन दैन घन, लगे सु जीवन लैन॥

यहां भी जीवन (पानी) देने के लिये आए हुए बादल जीवन (प्राण) लेने लगे।

प्रथम असङ्गति और विरोध का भेद

जिन दो वस्तुओं का एक अधिकरण में रहना प्रसिद्ध है, यदि उनको भिन्न २ अधिकरणों मे बताया जाय, तब असङ्गति होती है। कार्य और कारण सदा एक अधिकरण में रहते हैं। यदि उनको जुदा जुदा अधिकरणों में बताया जायगा तो असंगति अलङ्कार होगा। जिन दो वस्तुओं का भिन्न २ अधिकरणों में रहना प्रसिद्ध है यदि उन को एक अधिकरण में बताया जाय तब विरोध होता है। देखो विरोध का प्रथम उदाहरण पृ० २०४। सूर्यत्व और चन्द्रत्व—ये दोनों अर्थ ऐसे हैं जो एक जगह नहीं रहते, जुदा जुदा अधिकरणों में रहते हैं। यदि इनको एक अधिकरण में बताया जाय तो विरोध होगा।

विषम

जहां दो विरूप (बेजोड़) वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध (जोड़) बताया जाय, वहां 'विषम' अलङ्कार होता है।[1]

सुख सरूप रघु-वंश-मनि, मङ्गल-मोद-निधान।
ते सेवत कुस-डासि महि, विधि गति अति बलवान॥
(रा० मा०)

यहा मङ्गल-मोद-निधान भगवान् रामचन्द्र और पृथ्वी पर बिछी हुई कुश सांथरी—ये दोनों बेजोड़ है, इनका जोड़ नहीं मिलता।

कहँ धनु-कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥

यहा वज्र से भी बढ़ कर कठोर धनुष और श्रीरघुनाथ जी का कोमल शरीर—ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इन दोनों का परस्पर जोड़ नहीं फबता। 'कहँ' पदों से दोनों के सम्बन्ध की अयोग्यता बताई गई है।

पर विधि ने करतूत यहा भी अपनी साजी,
वीर-वश में लाय हाय! उपजाया पाजी।

---

1 जहँ न है अनुरूप द्वै, तिनकी घटना होय।
विषम तहाँ बरनन करत, कवि कोविद सब कोय॥ (मतिराम)

कहाँ छत्रपति भूप आर्य-कुल-मुकुट शिवाजी ।
कहाँ कलंकी क्रूर कुटिल कायर संभाजी ॥

(कामताप्रसाद गुरु)

यह पद्य 'शिवाजी' के वर्णन मे कहा गया है । यहाँ 'कहाँ कहाँ' पदों से शिवाजी और शम्भाजी के 'पिता पुत्र भाव' में विषमता बताई गई है, इसलिये विषम है ।

विषम-विष-बुझी अनल-सम कहाँ,
विमाता की वह तीखी बात ।
मोह-तम-दलन प्रभामय अतुल,
कहाँ ध्रुव-जीवन का सुप्रभात ॥ (मुकुटधर)

यह ध्रुव की तपस्या का वर्णन है ।

यहां भी 'कहाँ कहाँ' पदों से 'विमाता की तीखी बात' और 'ध्रुव जीवन' की परस्पर विषमता—असमानता—बताई गई है । इसलिये विषमालङ्कार है ।

दूसरा विषम[1]

यदि कार्य के गुण और क्रिया, कारण के गुण और

---

1 जहां वरनिये हेतु ते, उपजत काज विरूप ।
और विषम तहँ कहत हैं, कवि मतिराम अनूप ॥

क्रिया से विरुद्ध बताए गए हों तो भी 'विषम' अलङ्कार होता है।

खड्ग असित जसवन्त को, प्रगट कर्यो जस सेत ।

यहां यश का कारण खड्ग काला है परन्तु उस से श्वेत यश की उत्पत्ति बताई है। काला और श्वेत दोनों विरुद्ध गुण हैं ।

प्राण प्रिये ! तू निकट में, आनॅद देत अपार।

पर तेरे ही विरह की, ताप करत तन छार ॥

यहा कारण नायिका है, आनन्द देना उसका काम (क्रिया) है। परन्तु उसी नायिका से पैदा होने वाली विरहाग्नि शरीर को जला कर राख कर देती है। 'आनन्द देना' और 'तन छार करना' क्रमश: कारण और कार्य की परस्पर विरुद्ध क्रियाए हैं।

तीसरा विषम[1]

यदि काम करने वाले को अपने काम का इच्छित फल न मिले किन्तु विपरीत फल मिले तब भी 'विषम' अलङ्कार होता है।

---

1 इष्ट अर्थ उद्यम हि ते, जहँ अनिष्ट ह्वै जाय।
और विषम बरनत तहा, जे कवि कोविद राय॥ (मतिराम)

चिबुक सरूप समुद्र में, मन जान्यो तिल नाव।
तरन गयो बूड़्यो तहां, रूप कहर दरियाव॥

यह नायिका की ठोड़ी के तिल का वर्णन है। मन उसे भ्रम से नाव समझ कर तैरने के लिये गया परन्तु तैर कर पार उतरना तो दूर रहा, वह विचारा उल्टा रूप (सौन्दर्य) की नदी में डूब गया।

लोने मुख दीठि न लगै, यों कहि दीन्हों ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दिये दिठौना दीठि॥
लावति बीर पटीर घसि, ज्यों ज्यों सीरे नीर।
त्यों त्यों ज्वाल जगै दई, या मृदु बाल सरीर॥

इन दोनों दोहों में इच्छित फल से विपरीत फल की प्राप्ति बताई गई है।

सम

यह सम अलङ्कार विषमालङ्कार का बिलकुल उल्टा है। जैसे विषम में परस्पर असदृश पदार्थों का संघटन-सम्बन्ध-बनाया जाता है, वैसे ही 'सम' में उसके विपरीत परस्पर सदृश पदार्थों का सम्बन्ध बताया जाता है। विषम की तरह इस के भी तीन भेद हैं।

प्रथम सम[1]

जो वस्तु एक दूसरे के अनुरूप (योग्य) हैं उनका जहां परस्पर सम्बन्ध बताया जाय, वहां 'सम' अलङ्कार होता है।

भागीरथी बिगरी गति मैं अरु तू बिगरी गति की है सुधारक,
रोगी हौं मैं भवभोगी इत्यौ अरु याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक।
मैं तृषना अति व्याकुल हौ तू सुधारस आकुल ताप निवारक,
मैं जननी सरनागत हौं अरु तू करुना रत है जगतारक॥

यहा बिगड़ी गतिवाले का बिगड़ी गति को सुधारने वाले के साथ, रोगी का उपचारक (चिकित्सक) के साथ, तृषा से व्याकुल का तापनिवारक के साथ, शरणागत का जगतारक के साथ सम्बन्ध बताया गया है। सब एक दूसरे के अनुरूप हैं। बिगड़े हुए को सुधारक चाहिये, सुधारक को बिगड़ा हुआ। इसी तरह रोगी को चिकित्सक चाहिये, चिकित्सक को रोगी। तात्पर्य यह है कि यहा परस्पर अनुरूपों का ही सम्बन्ध वर्णन किया गया है, इसलिये 'सम' है।

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, ये हलधर के वीर॥

---

१ जहां दुहू अनुरूप को, कविजन करत बखान।
तहा समुझि सम कहत हैं, जे सुरग रस-ज्ञान॥ (मतिराम)

यहां भी परस्पर अनुरूप राधिका और श्रीकृष्ण के संबन्ध का वर्णन है।

जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक विविध होहिं मग जाता॥
जेइ विरंचि रचि सीय संवारी। तेइ स्यामल वर रच्यौ विचारी॥

इत्यादि भी समालङ्कार के उदारण हैं।

द्वितीय सम[1]

यदि कार्य के गुण कारणगुण के अनुरूप (सदृश) बताए जायँ, तब भी 'सम' अलङ्कार होता है।

जो कानन तें उपजि कै, कानन देत जराय।
ता पावक सौं उपजि घन, हनै पावकहिं न्याय॥

आग जङ्गल से पैदा होकर जङ्गल को ही जला देती है। अर्थात् अपने उत्पादक का नाश कर देना यह अग्नि का गुण है। ऐसी अग्नि से पैदा होने वाला बादल भी ऐसा ही है। वह अग्नि से पैदा होकर पानी से उसी अग्नि का नाश कर देता है। यहां कारण के गुण के अनुरूप (सदृश) ही कार्य का गुण है।

करत लाल मनुहारि पै, तू न लखति इहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ, उचित हि उरज कठोर॥

---

1 जहां हेतु ते काज को, वरनत उचित सरूप।
वरनत तहं सम और ऊ, जे कवि कोविद भूप॥

उरोज का कारण उर है। वह कठिन है, अत उरोज भी कठिन है। इसलिये यहा कारणगुण के सदृश ही कार्यगुण है।

सिव सब सुरन प्रधान, जैसे ही जन-रञ्जन वरद।
तैसो हि तिन्ह कर दान, ज्ञान-मुक्ति वारानसिहिं॥

शिव जी जिस प्रकार सब देवताओं में प्रधान हैं, जनरञ्जन हैं, और वरदाता हैं, वैसे ही उनका दान[1] भी है, जो वाराणसी (काशी) में ज्ञान के द्वारा मनुष्यों को मोक्ष देता है। यहां भी कारण के गुण के अनुरूप ही कार्य का गुण कहा गया है।

तृतीय सम[2] :—

यदि विना अनिष्ट प्राप्ति के कार्य सिद्धि का वर्णन हो तो 'तृतीय सम' होता है।

जल वसि नलिनी तप कियो, ताको फल वह पाय।
तो पद है या जनम में, सुगति लही इत आय॥

कमलिनी ने जल में रह कर तपस्या की है। हे राधिके! यह उसी तपस्या का फल है कि इस जन्म में तुम्हारे चरण

---

१ तारक मन्त्र का दान-उपदेश-शङ्कर भगवान् काशी में शरीर छोड़ने वालों को देते हैं। ऐसा पुराणों में लिखा है।

२ ताकी सिद्धि अनिष्ट विन, उद्यम जाके अर्थ।
तासौं सम औरौ कहत, जे कविराज समर्थ॥

बन कर उसने सुगति प्राप्त की है। यहां विना अनिष्ट प्राप्ति के नलिनी को इष्ट सिद्धि हुई है, इसलिये सम है।

यदि अनिष्ट प्राप्ति में श्लेष के कारण इष्ट प्राप्ति की प्रतीति हो तब भी 'सम' अलङ्कार होता है—ऐसा अप्पय दीक्षित जी का मत है।

> आयो वारन हेतु तू, भलो सुयोग विचार।
>
> आवत ही वारन मिल्यो, रे तो को नृप द्वार॥

राजद्वार पर वारन (हाथी) मिलने की लालसा से आए हुए किसी याचक की हँसी में यह पद्य कहा गया है। भाई! अच्छे मुहूर्त पर आए। तुम वारन चाहते थे सो वारन (धक्का) तुम्हे मिल गया। यद्यपि यहां अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति है तथापि श्लेष से इष्टार्थ की प्राप्ति का भान होता है।

प्रथम सम और प्रथम विषम का भेद

प्रथम सम में जो वस्तु एक दूसरे के सदृश है, उनका परस्पर सवन्ध बताया जाता है। प्रथम विषम में जो वस्तु एक दूसरे के असदृश हैं, उनका परस्पर संवन्ध बताया जाता है।

द्वितीय सम और द्वितीय विषम का भेद

न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है—'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते' अर्थात् कारण के गुण कार्य के गुण को पैदा करते हैं। इस नियम के अनुसार जैसा गुण कारण का होगा वैसा ही

कार्य का भी होना चाहिये। जहा इस न्यायशास्त्र के नियम के अनुसार कारण कार्य के गुण समान बताए जावें वहां सम अलङ्कार और जहां इस नियम का उल्लङ्घन कर दिया जाय अर्थात् कारण और कार्य के गुण परस्पर विपरीत बताए जावें, वहा विषम अलङ्कार होता है।

तृतीय सम और तृतीय विषम का भेद

तृतीय सम में विना किसी अनिष्ट प्राप्ति के कार्यसिद्धि बताई जाती है। तृतीय विषम में इष्ट की असिद्धि के साथ साथ अनिष्ट की प्राप्ति भी बताई जाती है।

विचित्र[1]

यदि इष्ट फल की प्राप्ति के लिये उस (इष्ट फल) के विपरीत कार्य किया जाय तो विचित्र अलङ्कार होता है।

जीवन हित प्रानहि तजत, नमत ऊंचाई हेत।
सुख कारन दुख समहैं, बहुधा पुरुष सचेत॥

जीने के लिये मरना, ऊचा होने के लिये झुकना, सुख के लिये दुःख सग्रह करना इष्टफल के विरुद्ध कार्य हैं।

---

1 जहा करत उद्यम कछु, फल चाहत विपरीत।
वरनत तहा विचित्र कहि, जे कवित्त रस प्रीति॥ (मतिराम)

इसी प्रकार—

'अमर होन हित समर महं, जूझत पुरुष, पुनीत ॥
'पार होन हित काव्य सर, बूड़त रसिकहजार ॥'

इत्यादि उदाहरण भी समझना चाहिऐं।

अधिक[1]

जहां वस्तुतः आधेय की अपेक्षा आधार अति विस्तृत हो परन्तु फिर भी आधार की अपेक्षा आधेय में आधिक्य बताया जाय, वहां 'अधिक' अलङ्कार होता है।

जो वस्तु किसी स्थान में रक्खी जाय उसे आधेय कहते हैं, जिस स्थान मे रक्खी जाय उस स्थान को आधार कहते हैं।

जा हरि के तन लोक तिँहु, अति छोटे दरसात।
नारद आगम जनित मुद, तहँ नहिं रंच समात ॥

यहां भगवान् कृष्ण का शरीर आधार है और नारद के आगमन से होनेवाला आनन्द आधेय है। आधेय की अपेक्षा आधार अति विस्तृत है, परन्तु फिर भी यहां आधेय में अधिकता बताई गई है, क्योंकि वह आधार में समाता नहीं है।

---

१ जहां बड़े आधार तें, बरनत बढ़ि आधेय।
कहत सुकविजन अधिक तहँ, जिन की बुद्धि अजेय॥ (मतिराम)

जामें भारी भुवन सब, गॅवई से दरसात ।

तेहि अखड ब्रह्मंड में, तेरो जस न अमात ॥

यहां यशरूप आधेय में 'न अमात' ऐसा कहने से अधिकता बताई गई है ।

दूसरा अधिक

जहां आधेय वस्तुतः आधार से बड़ा हो परन्तु फिर भी आधेय की अपेक्षा आधार को बड़ा बताया जाय वहां भी 'अधिक' अलङ्कार होता है ।

जा जदुपति के उदर में, सिगरो बसत जहान ।

सुख सों राखत ताहि तू, हियरे हार समान ॥

यहा आधेय यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण हैं और आधार राधिका जी का हृदय है । आधेय आधार की अपेक्षा वस्तुत अति विस्तृत है, क्योंकि उस (आधेय) में तीनों लोक समा जाते हैं । परन्तु ऐसे विस्तृत आधेय की अपेक्षा भी आधार (राधिका जी का हृदय) बड़ा बताया गया है । तभी तो उस में त्रिभुवन के आधार भगवान् यदुपति का सुखपूर्वक समा जाना संगत होता है ।

---

१ जहा बड़े आधेय तें, बरनत बढ़ि आधार ।
तहा अधिक औरो कहत, कविजन बुद्धि अपार ॥ (मतिराम)

इतना सुख जो न समाता अन्तरिक्ष में जल थल में।
मुट्ठी में तुम ले बैठे आश्वासन देकर छल में ॥
(जयशङ्करप्रसाद)

यहां आधेय सुख की अपेक्षा आधार मुट्ठी को बड़ा बताया है।

व्यापक ब्रह्म निरंजनउ, निर्गुण विगत विनोद।
सो अज प्रेम रु भक्तिवस, कौसल्या की गोद ॥ (रा० मा०)

यहां आधेय व्यापक ब्रह्म की अपेक्षा आधार कौसल्या की गोद को बड़ा बताया है, तभी तो व्यापक ब्रह्म उसमें समा गया।

अल्प

जहां सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा भी आधार को अति सूक्ष्म बताया जाय, वहां 'अल्प' अलङ्कार होता है।

अंगुरी की मुंदरी हुती, भुज मे करत विहार।

नायिका विरह के कारण इतनी कृश हो गई है कि उसकी अंगूठी आज बांह में आसानी से आ जाती है।

यहां अंगूठी रूप आधेय स्वतः सूक्ष्म—छोटी सी वस्तु

---

1 जहँ सूछम आधेय तै, अति सूछम आधार।
'अल्प' अलकृत कहत हैं, कविजन बुद्धि उदार ॥

है, परन्तु उसकी अपेक्षा भी आधार भुज अत्यन्त सूक्ष्म है, तभी तो अगूठी उसमें आ गई है।

मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति सक ।

टूटि परै जनि भार ते, निपट पातरी लक ॥ (मतिराम)

यहा आधेय मन स्वत अणुरूप—अत्यन्तसूक्ष्म-है, परन्तु उसकी अपेक्षा आधार नायिका की लङ्क (कमर) को अत्यन्त सूक्ष्मतर बताया है।

अन्योन्य[1]

जहां दो पदार्थों में एक दूसरे से एक दूसरे का उपकार बताया जाय, वहां 'अन्योन्य' अलङ्कार होता है।

कविवर मतिराम जी ने इसका नाम 'परस्पर' लिखा है। अन्तर कुछ नहीं है। अन्योन्य और परस्पर शब्द समानार्थक हैं।

मोहत ताल मराल सों, तालहि सों जु मराल।

करत परस्पर हैं सदा, गुरुता प्रगट विसाल ॥

यहां ताल से हंस की और हस से ताल की शोभा और गुरुता बताई गई है इसलिये परस्पर उपकार होने के कारण यहा 'अन्योन्य' अलङ्कार है।

---

1 अन्योन्य उपकार जहँ, यह बरनन ठहराय।

ताहि अन्योन्य कहत हैं, अलङ्कार कविराय ॥ (भूषण)

तुहि राखी सखि ! लाल करि, निज उर की बनमाल ।
तैं राख्यो करि लाल निज, कण्ठमाल को लाल (मतिराम)

तुम को कृष्ण महाराज ने अपनी छाती का हार बनाया और बदले में तुमने भी उन्हें अपने गले के हार का लाल बनाया । यहां भी अन्योन्य है ।

पतनी पति बिनु दीन अति, पति पतनी बिनु मंद ।
चंद बिना ज्यौं जामिनी, ज्यौं जामिनि बिनु चंद ॥

यहां परस्पर एक के अभाव में दूसरे को दीन बताकर यह सूचित किया कि दोनों की अदीनता—हर्ष-एक दूसरे पर अवलम्बित है, अर्थात् दोनों एक दूसरे के आनन्द के हेतु है । इसलिये यहां भी अन्योन्य है ।

इसको विनोक्ति का उदाहरण नहीं कह सकते । विनोक्ति में अप्रस्तुत के विना प्रस्तुत की अरमणीयता बताई जाती है । परन्तु यहां पति पत्नी दोनों प्रस्तुत हैं और दोनों की एक दूसरे के विना अरमणीयता बताई गई है ।

विशेष[1]

यदि प्रसिद्ध आधार के विना ही आधेय की स्थिति का वर्णन हो तो 'विशेष' अलङ्कार होता है ।

---

१ जहँ आधेय बखानिए, बिन प्रसिद्ध आधार ।
कविजन तहां 'विशेष' कहि, बरनत बुद्धि उदार ॥

कनक-वेलि में कोकनद, ता मे स्याम सरोज ।
तिन में मृदु मुसिक्यानि है, ता में मुदित मनोज ॥

यहा कोकनदादि पदार्थों की स्थिति जल आदि प्रसिद्ध आधार के विना भी बताई गई है।

वन्दनीय किहिं के नहीं, वे कविन्द मतिमान ।
स्वरग गए हू काव्य रस, जिनको जगत जहान ॥

कवि लोग ही काव्यरस के प्रसिद्ध आधार हैं । परन्तु उनके स्वर्ग चले जाने पर उनके विना भी यहा काव्य रस की स्थिति बताई गई है।

दूसरा विशेष

किसी एक परिमित आधार में रहने वाले आधेय का यदि एक समय में अनेक आधारों में वर्णन किया जाय तब भी 'विशेष' अलङ्कार होता है ।

उदाहरण जैसे—

कवि वचनन सुमुखिन दृगन, जनकसुता हिय मांहि ।
प्रविशे श्री रघुवश मनि, तोरत ही धनु ताहि ॥

यहा एक ही समय में भगवान् राम का कवि वचन आदि अनेक आधारों में वर्णन होने से 'विशेष' अलङ्कार है ।

गोपिन संग निशि शरद की, रमत रसिक रस रास ।
लह्यछेह अतिगतिन को, सबन लखे निज पास ॥

यहां भी श्रीकृष्ण जी का अनेक आधारों में वर्णन हुआ है। कविवर मतिराम के मत से द्वितीय 'विशेष' का लक्षण निम्न लिखित है—

जहँ अनेक थल में कछु, बात बखानत एक ।
तहँ 'विसेख' औरो कहत, कविजन बुद्धि विवेक ॥

उदाहरण जैसे—
पूरब पच्छिम उत्तर दक्खिन भाऊ दिवान की कीरति राजै ।

तीसरा विशेष

यदि किसी एक कार्य को करते करते किसी दूसरे अशक्य (कठिन) कार्य की सिद्धि हो जाय तब भी 'विशेष' अलङ्कार होता है।

कल्पवृक्ष देख्यो सही, देखत तुहि सुख-मूर ।

हे राजन् ! आप के दर्शन करते हुए मैंने कल्पवृक्ष के दर्शन कर लिये । यहां भी राजदर्शन रूप कार्य करते हुए कल्पवृक्ष

---

१ करत कछू आरम्भ ते, जहं असक्य कछु और ।
तहं विशेष औरो कहत, कवि कोविद सिरमौर ॥ (मतिराम)

दर्शन रूप जो अशक्य कार्य है उस की सिद्धि हुई है। इसलिये 'विशेष' है।

कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आज मुहि राम सप्रीते॥

(रा० मा०)

यहां भी कपि के दर्शनमात्र से सकल दुःखों का नाश होना तथा भगवान् राम के दर्शन होना—इन दो अशक्य कार्यों की सिद्धि बताई गई है।

व्याघात[1]

कोई व्यक्ति किसी उपाय से कोई कार्य सिद्ध करता है या करने की इच्छा करता है, यदि दूसरा व्यक्ति उसी उपाय से उसके विपरीत कार्य करदे या करने की इच्छा करे तब 'व्याघात' अलङ्कार होता है।

उदाहरण जैसे—

दीनन को कहि वचन ही, दुर्जन जग दुख देत।
तिन ही सों हरषित करहिं, सज्जन कृपा-निकेत॥

दुर्जन जिन वचनों से दीनों को दुःख देते है, उन्हीं वचनों

---

[1] और काज करता जहा, करै और ई काज।
ताहि कहत व्याघात हैं, भूषन कवि सिरताज॥

से सज्जन उन्हें हर्षित करते हैं। यहां एक ही उपाय से दो विपरीत कार्य बताए हैं। इसलिये 'व्याघात' है।

जो पिय जानतु हो हमको अबला तो हमे कबहूं मति छोड़ो।

भगवान् राम सीता जी को 'अबला' कह कर वन में अपने साथ ले जाना नहीं चाहते। परन्तु सीता जी अपनी अबला-पन के कारण ही भगवान् राम के साथ जाना चाहती है। क्योंकि 'अबला' को अकेला छोड़ना ठीक नहीं। यहां भी एक ही उपाय से दो विपरीत कार्य करने की इच्छा होने से 'व्याघात' है।

कविवर मतिराम जी के मत से—जहां एक ही वस्तु दो विरुद्ध कार्य करे वहां 'व्याघात' होता है।

वेही नैन रूखे से लगत और लोगनि कौ।
वेही नैन लागत सनेह भरे नाह कौ॥
तिय तव ये नैना दिए, हिंए उछाह अछेह।
पिय बिछुरे दुख-प्रद भए, नेह किये अब मेह॥

इन दोनों उदाहरणों में एक ही वस्तु को दो विरुद्ध कार्य करने वाला बताया है।

कारणमाला

जहां पूर्व पूर्व कथित पदार्थ आगे आगे कहे हुए पदार्थ का या आगे आगे कहा हुआ पदार्थ पूर्व पूर्व कथित पदार्थ का कारण हो, वहां 'कारणमाला' अलङ्कार होता है।

होत लोभ ते मोह, मोहहिं ते उपजै गरव ।
गरव बढावे कोह, कोह कलह, कलहहु व्यथा ॥

यहा पूर्व पूर्व को उत्तर उत्तर पदार्थ के प्रति कारण कहा गया है।

बिनु बिश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम-कृपा बिनु सपने हुँ, जीव न लह विश्राम ॥

यहां भी विश्वास आदि पूर्व पूर्व पदार्थ आगे आगे कहे हुए भक्ति आदि पदार्थों के प्रति कारण हैं ।

सुजस दान अरु दान धन, धन उपजै किरवान ।
सो जग मैं जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान ॥

---

१ पूरव पूरव हेतु जहँ, उत्तर उत्तर काज ।
तहाँ 'हेतुमाला' कहत, कवि कोविद सिरताज ॥
उत्तर उत्तर हेतु जहँ, पूरव पूरव काज ।
इहौ 'हेतुमाला' कहत, कवि जन बुद्धि-जहाज ॥ (मतिराम)

यहां सुयश दान से, दान धन से और धन कृपाण से पैदा होता है—इस प्रकार पूर्व पूर्व कथित सुयश आदि पदार्थों के प्रति आगे आगे कहे हुए दान आदि पदार्थ कारण बताए गए हैं।

एकावली[1]

यदि पूर्व पूर्व अर्थ अगले अगले अर्थ के प्रति विशेष्य या विशेषण हो, तब 'एकावली' अलङ्कार होता है।

जहां पूर्व अर्थ को अगले अर्थ के प्रति विशेष्य बताया जायगा वहां अगला अर्थ विशेषण होगा यह बात अर्थात् सिद्ध है। विशेषण दो प्रकार का होता है-एक 'स्थापक' दूसरा 'अपोहक'। जो अपने सम्बन्ध से विशेष्य में रहने वाले धर्म का नियामक हो उसे 'स्थापक' विशेषण कहते हैं और जो अपने अभाव से विशेष्य में रहने वाले धर्म का अभाव बताता है वह 'अपोहक' विशेषण कहलाता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः नीचे देते हैं।

विद्या वही जातै ज्ञान बढ़ै अरु ज्ञान वही करतव्य सुझावै।
है करतव्य वही जग में दुख आपने बन्धुन को विनसावै॥

---

१ एक अर्थ लै छोड़िये, और अर्थ लै ताहि।
अर्थपाति इमि कहत हैं, एकावली सराहि॥ (मतिराम)

बन्धु वही जो विपति हरै औ विपति वही जो कि वीर बनावै।

वीर वही अपने तन को धन को मन को पर-हेत लगावै ॥

यहां 'विद्या' आदि पूर्व पूर्व अर्थ के प्रति 'ज्ञान' आदि अगले अगले अर्थों को विशेषणता होने से 'एकावली' है। 'ज्ञान' आदि 'स्थापक' विशेषण हैं, क्योंकि वे विशेष्य 'विद्या' आदि पदार्थों में रहने वाले विद्यात्व (विद्यापन) आदि धर्मों का नियमन करते हैं, अर्थात् विद्या का विद्यापन तब ही है जब उससे ज्ञान (विवेक) बढ़े, इत्यादि नियम सूचित करते हैं। इसी प्रकार—

सुमति वही निजहित लखै, हित वह जित उपकार।

उपकृति वह जह साधुता, साधुन हरि आधार ॥

इत्यादि भी स्थापक विशेषण वाली 'एकावली' के ही उदाहरण हैं।

सो नहिं सर जित सरसिज नाहीं,

सरसिज नहिं जेहि अलि न लोभाहीं।

अलि नहिं जो कल-गुजन-हीना,

गुजन नहिं जु मन न हरि लीना ॥

यहां भी पूर्व पूर्व को अगले अगले अर्थ के प्रति विशेष्यता है, परन्तु यहां विशेषण 'अपोहक' हैं। 'सरसिज' आदि विशे-

षण अपने अभाव से 'सर' आदि विशेष्यों में रहने वाले सरस्त्व (सरपन—तालावपन) आदि धर्मों का अभाव बताते हैं अर्थात् यदि 'सरसिज' नहीं तो तालाव का तालावपन ही कुछ नहीं इत्यादि नियम सूचित करते हैं।

शुभाचरन ते अति विमल, तुव मति हे छितिपाल !।
मति-रसरी चपला वँधी, वह नित करति नृपाल ॥

हे राजन् ! तुम्हारी बुद्धि धर्माचरण के कारण पवित्र है, बुद्धि से तुम्हारी राजलक्ष्मी वँधी हुई है और वह राजलक्ष्मी प्रजा का नित्य पालन करती है।

यहां शुभाचरण आदि पूर्व पूर्व अर्थ आगे आगे कहे हुए मति आदि अर्थों के विशेषण हैं, इसलिए 'एकावली' है।

रस सों काव्य रु काव्य सों, सोहत वचन महान।
वचनन ही सों रसिक जन, तिन सों सभा सुजान ॥

यहां भी 'रस' आदि पूर्व पूर्व पदार्थ अगले अगले 'काव्य' आदि पदार्थों के विशेषण हैं। अतः यहां भी 'एकावली' है।

ये दोनों उदाहरण पूर्व पूर्व अर्थ की विशेषणता के हैं। इन दोनों मे अन्तर केवल इतना है कि प्रथम में पूर्व पूर्व अर्थ के द्वारा उत्तर उत्तर अर्थ का उपकार पृथक् पृथक् रूप से किया गया है। दूसरे में 'उपकार' का एक ही रूप है, जो कि 'सोहत'

शब्द से कहा गया है। जहां उपकार का एक ही रूप होता है वहा प्राचीन आलङ्कारिक 'मालादीपक' मानते हैं। इसलिये प्राचीनों के मत से पूर्व पूर्व अर्थ की विशेषणता का द्वितीय उदाहरण 'मालादीपक' का समझना चाहिए।

माला दीपक पूर्वपद, उत्तर प्रति उपकार।
रस सों काव्य रु काव्य सों, सोभा वचन अपार॥
दीपक अरु एकावली, मिलें जहा ये दोय।
वरनत कवि-कोविद सकल, मालादीपक सोय॥

सार[1]

जहां पूर्व पूर्व अर्थ की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु में उत्कर्ष या अपकर्ष का वर्णन हो, वहां 'सार' अलङ्कार होता है।

शिला कठोरी काठ ते, ताते लोह कठोर।
ताहू ते कीन्हों कठिन, मन तुम नन्दकिशोर॥

यहा शिला आदि में उत्तरोत्तर कठोरता का उत्कर्ष (आधिक्य) बताया गया है।

तृन ते तूल रु तूल ते, हरवो जाचक जान।
माँगन सकुच न पौन हू, जाहि लियो सग ठान॥

यहाँ उत्तरोत्तर हलकेपन का अपकर्ष (न्यूनता) बताया है।

---

१ उत्तर उत्तर उतकरप, 'सार' कहत सज्ञान।

यथासंख्य

जिस क्रम से वस्तुओं का वर्णन हो उसी क्रम से यदि उनका अन्वय (सम्बन्ध) हो तो 'यथासंख्य' अलंकार होता है। इसका दूसरा नाम 'क्रम' भी है।

गिरे अरिन के तकत तुव, रूप रोष-विकरार।
तन ते मन ते करन ते, स्वेद गरव हथियार॥

यहां उत्तरार्ध में तन का स्वेद से, मन का गरव से और करन (हाथों) का हथियार से क्रम अनुसार ही सम्बन्ध है।

वसन्त ने सौरभ ने पराग ने,
प्रदान की थी अतिकान्त भाव से।
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को,
मनोज्ञता मादकता मदान्धता॥

यहां भी वसन्त का वसुन्धरा और मनोज्ञता से, सौरभ का पिक और मादकता से तथा पराग का मिलिन्द और मदान्धता से क्रमशः अन्वय होता है।

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

---

१ यथासंख्य क्रम सौं कहैं, क्रम ही बहुरि बखान॥ (मतिराम)

इस उदाहरण मे भी 'अमी' आदि पदों का 'जियत' आदि पदों के साथ क्रमश. अन्वय होता है।

पर्याय

यदि यक वस्तु का क्रमशः अनेक आश्रयों में या अनेक वस्तुओं का क्रमशः एक आश्रय में रहना वर्णन किया जाय तब 'पर्याय' अलङ्कार होता है।

प्रथम हि पारद मे रही, फिरि सौदामिनि माँह।
तरलाई भामिनि-दृगनि, अब आई बृजनाह॥

यहां 'तरलाई' (चञ्चलता) इस एक वस्तु का क्रमशः पारद (पारा), सौदामिनी (बिजली) और भामिनी-नयन में रहना बताया गया है, इसलिये पर्याय है।

ऋषि हिं देखि हरषै हियो, राम देखि कुम्हलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिन्ता चित्त डोलाय॥

यहां एक ही हृदय रूपी आधार में क्रमशः हर्ष, कुम्हलाना, और भय—इन अनेक वस्तुओं की स्थिति बताई गई है।

---

१ कै अनेक हैं एक मैं, कै अनेक मैं एक।
रहत जहाँ पर्याय सों, है पर्याय विवेक॥ (मतिराम)

परिवृत्ति[1]

यदि एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु के लेने या देने का वर्णन हो तब 'परिवृत्ति' अलङ्कार होता है।

परिवृत्ति शब्द का अर्थ है अदला बदला। यह अदला बदला चार प्रकार से होता है—(१) उत्तम वस्तु देना और उत्तम ही लेना। (२) निकृष्ट ही लेना और निकृष्ट ही देना। (३) उत्तम देकर निकृष्ट लेना। (४) निकृष्ट देकर उत्तम लेना।

नृत्य कला सिख दै ललित, लतिकन यमुना तीर।
सुमन गन्ध उनको मधुर, लेवत धीर समीर॥

यहां नृत्यकला के बदले धीर समीर ने पुष्पों का मधुर गन्ध लिया। नृत्यकला और पुष्पगन्ध दोनों उत्तम हैं।

मृतक अस्थि लै गङ्ग ! तुम, देत प्रेत-गन-संग।
मुण्ड-माल मृग-छाल अरु, भूषन भसम भुजङ्ग॥

यहां भी मृतक अस्थियों के बदले में प्रेतों का सहवास आदि देने का वर्णन है। दोनों निकृष्ट हैं। यहां व्याजस्तुति भी है। व्याजस्तुति का लक्षण देखो पृष्ठ १६७ पर।

---

१ घाटि बाढ़ि द्वै बात को, जहां पलटिबो होय।
तहां कहत परिवृत्ति हैं, कवि-कोविद सब कोय॥ (मतिराम)

दीन्हौं होइ सु पाइये, कहते वेद पुरान।

मन दै पाई वेदना, वाह हमारे दान ॥

यहां मन देकर वेदना प्राप्ति का वर्णन है। मन उत्तम है और वेदना निकृष्ट।

मो मन मेरी बुद्धि लै, करि हरकौ अनुकूल।

लै त्रिलोक की साहबी, दै धतूर को फूल ॥ (मतिराम)

यहां धतूरे का फूल देकर तीनों लोकों का प्रभुत्त्व लेना वर्णित है। धतूरे का फूल निकृष्ट है और त्रिलोक का प्रभुत्त्व उत्तम है।

तस्कर ! तेरे करन की, कहँ लगि करिय सराह।

दीन्हों दारिद द्रव्य लै, अब सुख सेवत साह ॥

यहा दरिद्रता के बदले में द्रव्य लिया। दरिद्रता निकृष्ट है और द्रव्य उत्तम है।

परिसंख्या

जहां प्रश्नपूर्वक या विना प्रश्न के ही कथित वस्तु से तत्सदृश (कथित वस्तु के सदृश) अन्य वस्तु का निषेध प्रतीत हो, वहां 'परिसंख्या' अलंकार होता है।

---

१ और ठौर ते मेटि कछु, थात एक ही ठौर।

वरनत परिसंख्या कहत, कवि कोविद सिरमौर ॥ (मतिराम)

निषेध कहीं 'न' आदि शब्दों के द्वारा प्रतीत होता है और कहीं अर्थात् सिद्ध रहता है। जहां 'न' आदि शब्दों के द्वारा निषेध हो वहां 'शाब्द' निषेध होता है, जहां अर्थात् सिद्ध हो वहां 'आर्थ'।

भूषण क्या अति उत्तम ? दृढ़ यश, रत्न जटित आभूषण हैं न,
क्या कर्तव्य उचित है कहिये ? आर्य चरित है, दूषण हैं न।
सत्य मित्र है कौन ? धर्म ही, नर अरु नारी कोइ नहीं,
क्या है नेत्र ? विमल मति, साधो ! आँख चाम की कभी नहीं॥

यहां प्रथम पाद में प्रश्न करके 'दृढ़ यश' को अति उत्तम भूषण कहा है और उससे अतिरिक्त रत्नजटित आभूषणों में भूषणता का निषेध किया है। इसी प्रकार द्वितीय आदि पादों में प्रश्नपूर्वक कथित वस्तु से इतर वस्तु का निषेध किया है। यहां निषेध 'शाब्द' है।

सेव्य कहा ? तट सुरसरित, कहा ध्येय ? हरिपाद।
करन उचित कह ? धर्म नित, चित तजि सकल विषाद॥

यहां प्रश्न करके गङ्गातट को सेव्य बताया है। 'गङ्गातट से अतिरिक्त पदार्थ सेव्य नहीं है' यह निषेध अर्थात् फलित हो जाता है। इसलिये यहां निषेध 'आर्थ' है।

लखियत चित्रन मे लिखो, संकर के कर सूल।
नृपति राम के राज्य मे, है न सूल दुख-मूल॥

यहां चित्रों में शङ्कर भगवान् के हाथ में सूल (त्रिशूल) बताकर भगवान् राम के राज्य में सूल (सूली) का निषेध किया गया है । भगवान् राम के राज्य में सूली पर कोई नहीं चढ़ाया जाता । यहा निषेध प्रश्न पूर्वक नहीं है और 'शाब्द' है ।

पावस ही में धनुष अब, नदियों[1] में ही तीर ।

रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में वीर ॥ (वियोगी हरि)

इस पद्य का यह तात्पर्य है कि अब वर्षा ऋतु में ही धनुष (इन्द्र धनुष) दीखता है, मनुष्यों के हाथों में नहीं । नदियों में ही तीर (तट) हैं, मनुष्यों के हाथों में तीर (बाण) नहीं दीखते । रोने ही में लाल आखें होती हैं, क्रोध में कभी नहीं । शृङ्गार आदि नौ रसों मे ही वीर (वीर रस) रह गया है, पृथ्वी पर कोई वीर (बहादुर) नहीं रहा । यहा बिना प्रश्न के ही कथित वस्तु से तत्सदृश धनुष (कमान) आदि अन्य वस्तुओं का निषेध प्रतीत होता है और वह (निषेध) 'आर्थ' है ।

विकल्प[2]

यदि समान बलवाले दो पदार्थों का विरोध हो

---

१ 'नदीतीर'—यह वियोगी जी का अपना पाठ है ।

२ समबलजुत द्वै बात को, बरनत जहा विरोध ।

कविकोविद सब कहत हैं, तहँ विकल्प धुति सोध ॥ (मतिराम)

अर्थात् उन दोनों में एक समय में एक ही हो सके तो विकल्प 'अलङ्कार' होता है।

की तजि मान अनुज इव, प्रभुपद-पंकज-भृङ्ग।
होहि कि राम सरानल, खल ! कुल-सहित पतङ्ग ॥

यह शुक दूत की रावण के प्रति उक्ति है। या तो भाई की तरह भगवान् राम के चरण कमलों के भ्रमर बनो या उनकी बाणाग्नि में कुल सहित पतङ्ग हो जाओ। अर्थात् या तो प्रभु राम की शरण में जाओ या मौत के घाट उतरो। यहां राम की शरण में जाना और मरना दोनों विरोधी पदार्थ हैं। क्योंकि दोनों एक काल में नहीं हो सकते, एक ही हो सकता है। इसलिये विकल्प है।

कहँ उरझे किहि काज उर, लगी लगन की लाइ।
सखि ! देखिय किहि विधि मिलहिं, पिय आइ कि जिय जाइ ॥

यहाँ भी 'प्रिय-समागम' और 'मृत्यु'—इन दोनों का परस्पर विरोध है।

विकल्प और विरोध में भेद

विकल्प अलङ्कार में वस्तुतः (सचमुच) विरोध होता है। परन्तु विरोध में वस्तुतः विरोध नहीं होता, विरोध जैसा प्रतीत होता है।

समुच्चय[1]

यदि अनेक गुणों या अनेक क्रियाओं या गुण और क्रिया का मिलकर एक साथ होना बताया जाय तब 'समुच्चय' अलङ्कार होता है।

गुणसमुच्चय

पावस के आवत भये, श्याम मलिन नभ-थान ।
रक्त भये पथिकन हृदय, पीत कपोल तियान ॥

वर्षा ऋतु के आते ही आकाश में मलिनता, पथिकों के हृदय में रक्तता (अनुराग) और स्त्रियों के कपोलों पर पीतता (पीला-पन) आ गई। यहां अनेक गुणों का एक साथ होना वर्णित है।

क्रियासमुच्चय

मॉगि पठाये सिवा कुछ देस वजीर अजानन बोल गहे ना,
दौरि लियो सरजा परनालो यों भूषन जो दिन दोय लगे ना।
धाक सों खाक विजैपुर भो मुख आयगो खान खवास के फेना,
भै भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिलसाहि की सेना ॥

यहा भड़कना, कड़कना, धड़कना, दरकना क्रियाओं का समुच्चय है।

---

1 एक वारही जहँ भयो बहु काजन को धध।
ताहि समुच्चय कहते हैं भूषन जे मति बध ॥ (भूषण)

गुण और क्रिया का समुच्चय

इत पंकज-दल-छवि-सने, कोप-कलुष तो नैन ।
उत शत्रुन की भीर पर, विपति परी दुख दैन ॥

यहां 'कलुषता' गुण का और 'विपत्ति पड़ना' क्रिया का एक साथ होना वर्णित है ।

दूसरा समुच्चय

जहां एक कार्य के अनेक स्वतन्त्र कारण बताए जायँ, वहां भी 'समुच्चय' अलङ्कार होता है ।

फूल मे कीट चाँद में धब्बे, आग मे धूम दीप मे काजल ।
मैल जल मे, मलिनता मन में, देख किसका गया नहीं दिल जल ॥

यहाँ दिल जलने के 'फूल में कीट' आदि अनेक कारण बताए हैं, और वे सब स्वतन्त्र हैं । इन में एक २ से भी दिल में जलन पैदा हो सकती है ।

दिनकर की अन्तिम किरणों से, पुलकित निर्मल स्वर्ण गगन,
हरियाली से लदे सघन गिरि, कुसुमित सुरभित वन उपवन।
तरल-तरङ्ग-तरङ्गित सागर, परिमल-पूरित कलित कमल,
सभी एक स्वर से तव वैभव कहते हैं नित अनिल अनल ॥

---

१ बहासि करत बहु हेतु जहँ, एक काज की सिद्धि ।
दूहौ समुचय कहत हैं, जिनकी है मति सिद्धि ॥ (मतिराम)

यहा भी वैभव वर्णन रूप कार्य के अनेक कारण बताएगए हैं।

समाधि[1]

यदि अकस्मात् (अचानक) किसी दूसरे कारण के आ जाने से कार्य की सुगमता का वर्णन हो, तब 'समाधि' अलङ्कार होता है।

विनय यसोदा करति है, गृह चलिये गोपाल।
घन गरज्यो बरसा भई, भागि चले नँदलाल॥

यशोदा माता शिशुरूप भगवान् कृष्ण से घर चलने के लिये विनय कर रहीं थीं। इतने ही में बादल गरजने लगे और बरसा होने लगी। भगवान् घर की ओर दौड़ पड़े। यहा अकस्मात् बादल आदि के गरजने से शिशु श्रीकृष्ण को घर ले चलने में सुगमता दरसाई गई है, इसलिये 'समाधि' है।

समाधि और समुच्चय का भेद

समाधि में दूसरा कारण आकस्मिक (अचानक उपस्थित) होता है और उससे कार्य में सुगमता हो जाती है। परन्तु समुच्चय में कारणान्तर आकस्मिक नहीं होते, कार्य में सौकर्य (सुगमता) भी नहीं होता।

---

१ और हेतु के मिलन ते, सुकर होत जहँ काज।
बरनत तहा समाधि हैं, सकल सुकवि सिरताज॥ (मतिराम)

प्रत्यनीक[1]

जहां बलवान् शत्रु पर तो कुछ वश न चले परन्तु उस (शत्रु) के किसी भी सम्बन्धी का तिरस्कार वर्णित हो, वहां 'प्रत्यनीक' अलङ्कार होता है।

वरन स्यामतम नाम तम, उभय राहु सम जान।
तिमिरहिं ससि-सूरज ग्रसत, निसि-दिन निसचय मान॥

राहु सूर्य और चन्द्रमा का शत्रु है, क्योंकि वह उन्हें ग्रसता है। राहु बलवान् शत्रु है, उस पर सूर्य और चन्द्रमा का कुछ वश नहीं चलता, इसलिये वे उस (राहु) के सम्बन्धी तम (अन्धकार) को दिन रात ग्रसते रहते हैं। राहु का नाम भी 'तम' है और वर्ण भी श्यामतम (अत्यन्त काला) है। अन्धकार भी 'तम' कहलाता है और उसका स्वरूप भी काला है। इसलिये सादृश्य-सम्बन्ध से राहु और तम (अन्धकार) दोनों परस्पर सम्बन्धी हैं।

तो मुख छवि सों हारि जग, भयो कलङ्क-समेत।
सरद-इन्दु अरविन्द-मुखि, अरविंदनि दुख देत॥

यहां भी प्रत्यनीक है।

---

१ प्रबल शत्रु के पच्छ पर, जहँ विक्रम उल्लास।
प्रत्यनीक तासों कहत, कविजन बुद्धि विलास॥ (मतिराम)

काव्यार्थापत्ति[1]

जहां अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि का वर्णन हो, वहां 'काव्यार्थापत्ति' अलङ्कार होता है।

सिंह पछार्‌यो बाहुबल, कहा स्यार की बात।

यहा शेर जैसे बलवान् पशु को बाहुबल से पछाड़ देने से स्यार का पछाड़ देना अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

सुत-मिस विवशहु कहत हरि, कटी अजामिल पाश।

सुमरत जे श्रद्धा सहित, तिनहिं कहा भव-त्रास॥

यहां भी विवश होकर पुत्र के नाम के बहाने से हरि-नाम लेने वाले 'अजामिल' की यदि मुक्ति हो गई तो श्रद्धा-पूर्वक हरि का स्मरण करने वाले पुरुषों की मुक्ति अर्थात् सिद्ध हो जाती है।

काव्यलिङ्ग[2]

जहां समर्थन करने के योग्य अर्थ का समर्थन किया जाय, वहां 'काव्यलिङ्ग' होता है।

---

१ वह कीन्ह्यो तो यह कहा, इहि विधि जहा बखान।
कहत काव्यपद सहित तहँ, अर्थापत्ति सुजान॥ (मतिराम)

२ है दिढ़ाइबे जोग जो, ताको करत दिढ़ाव।
काव्यलिङ्ग तासों कहैं, भूषन जे कविराव॥ (भूषण)

श्री पुर मे, मग-मध्य मैं, तैं बन करी अनीति ।

री मुँदरी ! अब तियन की, को करि है परतीति ।

(केशवदास)

यह मुद्रिका (अंगूठी) के प्रति श्रीजानकी जी की उक्ति है। हे अंगूठी ! अयोध्या में भगवान् राम को श्री (राजलक्ष्मी) ने धोखा दिया। वन के रास्ते में मैंने उन्हे छोड़ दिया। वन मे तू ने उन्हे त्यागा । अब बता, स्त्रियों का कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा। यहां उत्तरार्ध मे कहे गए अर्थ का पूर्वार्ध में समर्थन किया गया है।

चञ्चल चख प्यालीन मै, रस अनूप लहराइ ।

छिनकु पियत तलफ़त मरत, जियत जु पियत अघाइ ॥

(दुलारेलाल भार्गव)

यहां रस की अनूपता (अनोखापन) का उत्तरार्ध के द्वारा समर्थन किया गया है।

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय ।

वह खाए बौरात हैं, वह पाए बौराय ॥

विहारी के इस पद्य में भी सोने की सौगुनी मादकता का समर्थन उत्तरार्ध में किया गया है, इसलिये काव्यलिङ्ग है ।

हेतु[1]

जहां कार्य और कारण में अभेद (एकरूपता) बताया जाय वहां 'हेतु' अलङ्कार होता है।

मोहि परम पद मुक्ति सब, तो पद रज घनश्याम।
तीन लोक को जीतिबो, मोहि बसबो व्रजधाम ॥

घनश्याम के चरण रज मुक्तिपद के हेतु हैं और मुक्तिपद कार्य है। इसी प्रकार व्रजधाम में रहना त्रिलोकी के जय का हेतु है और त्रिलोकी का जय कार्य है। परन्तु यहां 'हेतु' और कार्य का अभेद बताया गया है। इसलिये 'हेतु' अलङ्कार है।

नैननि को आनन्द है, जिय की जीवन जानि।
प्रगट दरप कंदर्प को, तेरी मृदु मुसकानि।

मुस्कराहट आनन्द आदि का हेतु है, न कि स्वयं आनन्द आदि रूप है। इसलिये कार्य कारण का अभेद होने से 'हेतु' है।

रूपक और हेतु में भेद

रूपक में उपमान और उपमेय का अभेद बताया जाता है, हेतु में कार्य और कारण का।

---

१ जहा हेतुमत हेतु को वरनत एक सरूप।
तहा हेतु भूपन कहत, सब कवि पण्डित-भूप ॥ (मतिराम)

अर्थान्तरन्यास[1]

जहां सामान्य से विशेष का या विशेष से सामान्य का समर्थन हो, वहां 'अर्थान्तरन्यास' होता है।

गंजा-नर-शिर भानु ताप तैं दग्धन लाग्यो।
विधिवश छाया हेत ताड़ तरवर तर भाग्यो॥
ताहि जात तिहि ठौर वृक्ष ते फल इक टूटयो।
भयो भयानक शब्द गिरत गञ्जा शिर फूटयो॥
श्री 'शिवसम्पति' कवि भनै सुनो मुख्य यह बात है,
विपति संग लगि जात तहँ भाग्य हीन जहँ जात है।

यहां पद्य के अन्तिम चरण में सामान्य वात कही गई है, उससे गञ्जे का पेड़ के नीचे जाना और फल गिरने से उसका सिर फूट जाना रूप विशेष अर्थ का समर्थन होता है।

बड़े न हूजे गुनन बिनु, विरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनों गढ़यो न जाय॥ (विहारी)

यहां पूर्वार्ध में सामान्य वात कही गई है, उत्तरार्ध मे विशेष के द्वारा उसका समर्थन किया गया है।

---

१ कहि विशेष सामान्य पुनि, कै सामान्य विशेष।
सो अर्थान्तरन्यास है, वरनत मीत उल्लखे॥ (मतिराम)

उदाहरण

जहां पहले सामान्य रूप से कोई बात बात दी जाय फिर स्फुट रूप से समझाने के लिये उसी सामान्य का एक अंश उदाहरण रूप मे उपस्थित किया जाय, वहां 'उदाहरण' अलङ्कार होता है।

सहज रसीलौ होय सौ, करै अहित पर हेत।
जैसै पीडित कीजिये, ऊख तऊ रस देत ॥

यहां 'सहज रसीलौ' इन पदों से संसार में जितने भी रसिक व्यक्ति है उन सब की ओर सामान्य रूप से संकेत है और उनके विषय में सामान्य रूप से ही यह बात कही गई है कि वे बुराई के बदले में भलाई ही करते हैं। अब इसी बात को अच्छी तरह समझाने के लिये पद्य के उत्तरार्ध में रसिक समुदाय का एक अंश ऊख व्यक्ति को उदाहरण रूप में उपस्थित किया है। जैसे-ऊख स्वभावत. रसीला है, उसे लोग कोल्हू में कुचलते हैं, लेकिन वह अपने कुचलने वालों को बदले में रस देता है। उनका अपकार नहीं करता।

औसर बीते जतनकौ करिबौ नहीं अभिराम।
जैसै पानी बह गए, सेत बंध किहिं काम ॥

उत्तम जन के संग मैं सहजै ही सुख भास।
जैसै नृप लावे अतर, लेत सभा जन बास॥

इत्यादि भी 'उदाहरण' अलङ्कार के उदाहरण हैं।

उदाहरण को उपमा नहीं कह सकते। क्योंकि सामान्य विशेष का उपमानोपमेयभाव नहीं होता। दो विशेष अर्थों में ही उपमानोपमेयभाव होता है।

उदाहरण और अर्थान्तरन्यास का भेद

उदाहरण अलङ्कार में सामान्य विशेष का अवयवावयविभाव रहता है और वह 'जैसे' 'ज्यौं' आदि शब्दों से वाच्य होता है। इसीलिये उदाहरण मे 'जैसे' 'ज्यौं' आदि पदों का होना अत्यावश्यक है।

अर्थान्तरन्यास मे सामान्य विशेष का अवयवावयविभाव प्रतीत तो होता है परन्तु वह वाच्य नहीं होता।

काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास का भेद

काव्यलिङ्ग में समर्थनीय और समर्थक का सामान्य विशेष भाव नहीं होता, अर्थान्तरन्यास में होता है। काव्यलिङ्ग में समर्थनीय अर्थ समर्थन की अपेक्षा रखता है, अर्थान्तरन्यास में नहीं रखता।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त का भेद

यद्यपि अर्थान्तरन्यास की तरह दृष्टान्त मे भी दो वाक्य

होते हैं, परन्तु दृष्टान्त में दोनों वाक्यार्थों का परस्पर सादृश्य प्रतीत होता है, सामान्य विशेषभाव नहीं। अर्थान्तरन्यास में सादृश्य प्रतीत नहीं होता किन्तु केवल सामान्यविशेषभाव।

अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद

अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य और विशेष अर्थों में एक के उक्त होने पर दूसरा अनुक्त रहता है। अर्थात् यदि सामान्य उक्त होगा तो विशेष अनुक्त रहेगा, यदि विशेष उक्त होगा तो सामान्य अनुक्त रहेगा। साथ ही जो अर्थ अनुक्त होगा वह सदा व्यञ्जन से प्रतीत होगा। परन्तु अर्थान्तरन्यास में दोनों (सामान्य विशेष) अर्थ उक्त (वाच्य) रहते हैं।

अनुमान[1]

जहां किसी साधन (हेतु) से किसी (अप्रत्यक्ष) वस्तु का अनुमान किया जाय वहां 'अनुमान' अलंकार होता है।

नाचि अचानक ही उठे, विन पावस वन मोर।
जानत हौं नन्दित करी, यह दिशि नन्द-किशोर॥

यहा अचानक विना वर्षा ऋतु के वन में मोरों का नाच उठना देखकर भगवान् घनश्याम श्रीकृष्ण के आगमन का

---

१ चिह्नहि लखि अनुमान बल, वस्तुहिं लीजै जानि।
तहँ अनुमान प्रमाण सब, भूषण कहैं बखानि॥ (अ० म०)

अनुमान किया गया है । भगवान् श्रीकृष्ण घन के समान श्याम हैं, घनों को देखकर मोर नाचा ही करते हैं ।

यद्यपि 'जानत हौं' इस पद को देखकर यहा उत्प्रेक्षा प्रतीत होती है, तथापि यहां उत्प्रेक्षा नहीं है । उत्प्रेक्षा में प्रकृत वस्तु में सादृश्य के कारण अप्रकृत वस्तु की संभावना की जाती है । यहां किसी में किसी की संभावना तो की नहीं गई, केवल हेतु से अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञानमात्र किया गया है । इसलिये यह अनुमान ही है । ऐसे स्थलों में 'मनु' 'जनु' 'जानत हौं' इत्यादि पद अनुमान के ही बोधक माने जाते हैं ।

प्रौढोक्ति[1]

जो वस्तुतः उत्कर्ष का हेतु न हो परन्तु उसको यदि उत्कर्ष का हेतु बताया जाय तब 'प्रौढोक्ति' अलङ्कार होता है ।

'जमना-तीर-तमाल मों तेरे बाल असेत'

यहां 'यमुना तीर में पैदा होना' तमाल वृक्ष में नीलता गुण के उत्कर्ष का हेतु कहा गया है, वस्तुतः वह नील गुण के उत्कर्ष का हेतु नहीं है, यमुना का जल नील होता है, इसलिये

---

१ जो अहेतु उत्कर्ष को कल्पित कीजे तौन ।
प्रौढोक्ति तासों कहत कवि कोविद मति भौन ॥ (मतिराम)

उसके तट का तमाल अधिक नील होगा, ऐसा कवि ने स्वय अपनी प्रतिभा से कल्पना कर लिया, इसलिये इसका नाम 'प्रौढोक्ति' है।

बाबी मधि पैदा भए कौच-सरिस खल लोक।
सुजनन पीडा देत अरु पठवत हैं यम-लोक॥

यहां भी 'कौंच' में मारकत्व रूप उत्कर्ष का हेतु 'वाबी में पैदा होना बताया गया है, वास्तव में यह मारकत्व का हेतु नहीं है। बांबी मे साप रहा करता है, साप मारक है, मारक के स्थान में रहने वाले को मारक ही होना चाहिये, यह कवि ने स्वयं कल्पना कर लिया, इस लिये यहा भी प्रौढोक्ति' है।

गग-नीर-विधु-रुचि झलक मृदु मुसकानि उदोत।
कनक-भौन के दीपलौ जगमगाति तन जोति॥

यहा भी गङ्गा का नीर चन्द्रमा की कान्ति के उत्कर्ष का और स्वर्ण-भवन दीपक की जगमगाहट के उत्कर्ष का हेतु नहीं है, तथापि कवि ने उसे उत्कर्ष का हेतु मान लिया।

मिथ्याध्यवसित

किसी अर्थ को मिथ्या सिद्ध करने के लिये दूसरे

---

1 एक झुठाई सिद्धि कौं झूठौं वरनत और।
तहँ मिथ्याध्यवसाय कौं कहत सुमति मति दौर॥ (मतिराम)

मिथ्या अर्थ की कल्पना करने में 'मिथ्याध्यवसित' अलङ्कार होता है।

खल वचनन की मधुरता चाखि सांप निज श्रौन।
रोम रोम पुलकित भए कहत मोद गहि मौन॥

यहां दुष्ट के वचन की मधुरता को मिथ्या सिद्ध करने के लिये, 'सांप का उसको (मधुरता को) अपने कानों से चाख कर रोमाञ्चित हो जाना और मौन होकर उसका वर्णन करना' रूप मिथ्या अर्थ की कल्पना की गई है। इसी प्रकार—

तेरो कुजस सुनाइवे बधिरन बसुधा वीर।
गावत गूंगो कछुक पी दूध उदधि के तीर॥
ससा सींग के धनुष लिय गगन-कुसुम धरि माल।
खेलत वंध्या-सुतन संग तुव अरिगण छिति पाल॥

इत्यादि भी 'मिथ्याध्यवसित' के उदाहरण हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ 'मिथ्याध्यवसित' को पृथक् अलङ्कार नहीं मानते। उनके मत मे यह 'प्रौढोक्ति' के ही अन्तर्गत है।

ललित[1]

प्रस्तुत वस्तु में प्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध न बता

---

१ वर्न्य वाक्य के अर्थ को, जहं केवल प्रतिबिम्ब।
प्रस्तुत मे वरनत ललित, निर्मल मति विधु बिम्ब॥ (मतिराम)

कर अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध बताने से 'ललित' अलङ्कार होता है।

अल्प विषय मम मति कहा रविकुल कहा अमन्द ।
चाहतु हौं सागर तरन लघु तरि सों मति मन्द ॥

यह अपने विषय में कविकुलगुरु कालिदास की उक्ति है। यहा कवि अपने आप प्रस्तुत है, उस में 'अल्प विषयवाली (अल्पज्ञ) मति के द्वारा अमन्द सूर्यकुल के वर्णन की इच्छा करना' यह प्रस्तुत व्यवहार न बताकर, 'छोटी नौका से सागर पार उतरने की इच्छा करना' रूप अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध बताया गया है, इसलिये 'ललित' अलङ्कार है।

कहा रूपवति और नहिं भुवि सीता हि अनूप ।
ऐंचत चन्दन-शाख को, तुम छेड्यो मनि भूप ॥

यह रावण के प्रति मन्दोदरी की उक्ति है। यहा रावण प्रस्तुत है, उस में 'सीताजी को हरण करके तुमने भगवान् राम को कुपित किया है' यह प्रस्तुत व्यवहार न बताकर 'चन्दन की शाखा को खैंचकर तुम ने साप को ठेस लगाई है' यह अप्रस्तुत व्यवहार बताया है, इसलिये यहा भी 'ललित' अलङ्कार है।

मेरी सीख सिखै न सखि मोसौं उठै रिसाय ।
सोयो चाहत नींद भरि सेज ऑगर विछाय ॥

यह भी 'ललित' का उदाहरण है।

निदर्शना और ललित का भेद

'निदर्शना' में प्रस्तुत व्यवहार और अप्रस्तुत व्यवहार दोनों शब्द द्वारा बता दिये जाते हैं। 'ललित' में केवल अप्रस्तुत व्यवहार ही बताया जाता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और ललित का भेद

'अप्रस्तुतप्रशंसा' मे धर्मी भी अप्रस्तुत होता है, 'ललित' में धर्मी तो प्रस्तुत होता है, किन्तु उसमें केवल अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध बताया जाता है।

ललित और समासोक्ति का भेद

'समासोक्ति' में प्रस्तुत वृत्तान्त से अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है। देखो समासोक्ति का उदाहरण पृ० १७७। ललित मे अप्रस्तुत वृत्तान्त से प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है।

प्रहर्षण[1]

विना प्रयत्न के ही मन चाही वस्तु की सिद्धि के वर्णन में 'प्रहर्षण' अलङ्कार होता है।

मेघन सों नभ छाइ रह्यो वन भूमि तमालन सों भइ कारी,
सांझ भई डरि है घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी।

---

१ जहँ उत्कण्ठित अर्थ की, विन उपाय ही सिद्धि।
तहां प्रहर्षन कहत है, जे कविजन मति सिद्धि॥

यों सुनि नन्द-निदेश चले दोऊ कुञ्जन में हरि भानुदुलारी,
सोई कलिन्दी के कूल इकन्त की केलि हरैं भवभीति हमारी ॥

श्रीकृष्ण और राधिका जी दोनों एक साथ यमुना तट पर जाने की इच्छा रखते थे, उनकी इच्छा विना किसी प्रयत्न के नन्द जी की आज्ञा से पूरी होगई।

चितवत पन्थ रहेउ दिन राती। अव प्रभु देख जुडानी छाती॥

जिन प्रभु की रात दिन राह देखते थे उनके आसानी से दर्शन होगए।

जाको रूप अनूप लखि, सखि न गयो धरि धीर।
आपुहि ते गैया दुहन आयो वही अहीर ॥

यहां भी गोपियों को जिन श्रीकृष्ण जी के दर्शन की लालसा थी, वे स्वयं गौवें दुहने के लिये पहुँच गए और इस तरह गोपियों ने अनायास ही उनके दर्शन कर लिये।

दूसरा[1] प्रहर्षण

यदि इच्छित अर्थ से भी अधिक लाभ हो तब भी 'प्रहर्षण' होता है।

---

१ जहँ मन इच्छित अर्थ ते, अधिक सिद्धि मतिराम ।
तहा प्रहर्षन औरऊ, वरनत मति अभिराम ॥

कुछ धन लौं गे द्वारका, जदपि न कह्यौ लजाइ।
तदपि लखी त्रैलोक्य-निधि, सदन सुदामा जाइ॥

सुदामा जी कुछ गुज़ारे लायक धन की इच्छा करते थे, परन्तु उन्हें उससे भी अधिक त्रैलोक्य की सम्पत्ति प्राप्ति हुई।

चाहत सत पावत सहस, गज पावत हय चाहि।
भावसिंह यों दानि है, जगत सराहत जाहि॥

यहां भी इच्छित अर्थ से अधिक लाभ का वर्णन है।

तृतीय प्रहर्षण

उपाय के लिये किये गए यत्न से यदि साक्षात् फल मिल जाय तब भी 'प्रहर्षण' होता है।

सूखत प्रान-समान निज, धानन देखि किसान।
पूछन गो जोसिहिं जतन, मग हि मिले मघवान॥

अपने प्राणों के समान धानों को सूखते हुए देख कर किसान किसी जोशी के पास 'वर्षा कब होगी' यह पूछने के लिये गया, रास्ते ही में उसे वर्षा रूप फल प्राप्त हो गया।

हरि की सुध को राधिका चली अली के भौन।
हँसत बीच ही मिलि गए बरनि सकै सुख कौन॥

---

१ जहाँ अर्थ की सिद्धि कौ, जतनहिते फल होय।
इहाँ प्रहर्पन कहत है कवि कोविद सब कोय॥ (मतिराम)

यहां भी हरि (श्रीकृष्ण) की याद के लिये सखी के घर जाते हुए राधिका जी को मार्ग में ही हरि के मिल जाने से 'प्रहर्षण' है।

विषादन[1]

यदि वाञ्छित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हो तब 'विषादन' अलङ्कार होता है।

इसका दूसरा नाम 'विषाद' भी है।

उडिहौं खिलि है कमल जब निसि बीते परभात।
यों सोचत अलि कोस गत तोरयो करि जलजात॥

कोई भौंरा कमल की कली में बन्द हुआ सोचता है- 'रात बीतने पर जब सुबह होगी और कमल खिलेंगे तो मैं इस बन्दी खाने से उड़ जाऊँगा' परन्तु इतने ही में किसी हाथी ने उस कमल को तोड़ दिया। यहा इच्छा के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति का वर्णन है।

विषादन और विषम का भेद।

'विषादन' में अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की इच्छा मात्र होती है, उसके लिए उद्योग नहीं किया जाता, परन्तु 'विषम' में इष्ट वस्तु के लिये उद्योग भी किया जाता है।

---

१ मन इच्छित के अर्थ की, प्रापति जहा विरुद्ध।
तहाँ विषादहि कहत हैं, जे कविजन मति सुद्ध॥ (मतिराम)

उल्लास[1]

जहां एक के गुण दोष से दूसरे में गुण दोष बताए जायँ वहां 'उल्लास' अलङ्कार होता है।

यह उल्लास चार प्रकार का होता है।

१—अन्य के गुण से अन्य मे गुण।

२—अन्य के दोष से अन्य में दोष।

३—अन्य के गुण से अन्य में दोष।

४—अन्य के दोष से अन्य मे गुण।

अन्य के गुण से अन्य में गुण जैसे—

> कह्यो देवसरि प्रगट ह्वै, 'दास' जोरि युग हाथ।
> भयौ सीय तुव न्हान ते, मेरो पावन माथ॥

यहां सीता के पतिव्रतात्व रूप गुण से स्नान द्वारा गङ्गा जी में 'पावनत्व' रूप गुण का वर्णन किया है।

अन्य के दोष से अन्य में दोष। जैसे—

> रहिवो उचित न मलय तरु, यहि कुवश वन माहिं।
> घसत परस्पर ह्वै अगिन, औरहु तरु जरि जाहिं॥

---

1 औरैं के गुन दोष ते, औरै को गुन दोष।
बरनत यौ उल्लास है, जे पण्डित मति कोष॥ (मतिराम)

यहां वॉसों के परस्पर संघर्षण से पैदा हुए अग्नि रूप दोष से वन में 'जलना' रूप दोष उत्पन्न हुआ।

कुटिल कूबरी संग ते भये त्रिभङ्गी लाल।

यहा कुब्जा के वक्रता रूप दोप से कृष्ण में 'वक्रता' रूप दोष वताया है।

अन्य के गुण से अन्य में दोप जैसे—

देह दुलहैया की बढ़ै, ज्यौं ज्यौं जोवन ज्योति।
त्यौं त्यौं लखि सौतें सबै वदन मलिन दुति होति॥

यहा नायिका की देह और युवावस्था की वृद्धि रूप गुण से, उसकी सपत्नियों में 'मालिन्य' रूप दोप का वर्णन किया।

अन्य के दोष से अन्य में गुण जैसे—

लाभ बड़ो जो कुशल सों सेवक निज घर जाहिं।

यहां भी स्वामियों के क्रूरता रूप दोष से सेवकों में 'विना वध के कुशल पूर्वक छुटकारा पा जाना' रूप गुण का वर्णन किया है।

कोई आचार्य उल्लास को 'काव्यलिङ्ग' के अन्तर्गत ही मनते हैं। किसी के मत से यह अलङ्कार ही नहीं है। क्योंकि इस में कुछ अलौकिकता नहीं। अलौकिकत्व ही चमत्कार का हेतु है।

अवज्ञा[1]

जहां अन्य के गुण दोष से अन्य में गुण दोष न हों वहां 'अवज्ञा' अलङ्कार होता है।

मेरे दृग वारिद वृथा, वरषत वारि-प्रवाह।
उठत न अङ्कुर नेह को, तो उर ऊसर माह॥

यहां वर्षा रूप गुण होने पर भी नायक के हृदय-क्षेत्र में अंकुर रूप गुण का अभाव बताया गया है।

करि वेदान्त विचारहू, शठहि विराग न होय।
रंच न मृदु मैनाक भो, निशिदिन जलनिधि सोय॥

संसार की अनित्यता बोधन करना वेदान्त का गुण है, परन्तु वेदान्त के इस गुण से शठ में वैराग्य रूप गुण नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार उत्तरार्थ में जलनिधि के द्रवता रूप गुण से भी मैनाक मे मृदुता रूप गुण नहीं उपजा।

कोई आचार्य इस को पृथक् अलङ्कार नहीं मानते क्योंकि यहां कारण के रहते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति बताई गई है, कारण के रहते हुए कार्य की अनुत्पत्ति में 'विशेषोक्ति' होती है। देखो पृ० २१४।

---

१ औरै के गुण दोष ते, औरै के गुन दोष।
जहँ न, अवज्ञा तहँ कहत, कविजन बुद्धि अदोष॥ (मतिराम)

अनुज्ञा[1]

किसी उत्तम गुण के लोभ से यदि दोष रूप से प्रसिद्ध वस्तु की भी चाहना की जाय तब 'अनुज्ञा' अलङ्कार होता है।

होउ विपति, जामें सदा हिये चढ़त हरि आनि।

यहां हरिभक्ति की लालसा से दोषरूप से प्रसिद्ध विपत्ति की भी चाहना की गई है।

तिरस्कार[2]

किसी दोष के कारण यदि गुणरूप से प्रसिद्ध वस्तु का भी तिरस्कार किया जाय तब 'तिरस्कार' अलङ्कार होता है।

जिन होवहु तिय श्रिय विभव गज तुरङ्ग कल बाग।
जनि के बस नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग॥

यहा भगवद्भक्ति छूटने के भय से स्त्री, लक्ष्मी आदि का तिरस्कार किया गया है।

---

१ करत दोष की चाह जहँ, ताही में गुण देखि।
तहाँ अनुज्ञा कहत हैं, कविजन ग्रथिन लेखि॥

२ त्यागिय आदरणीय हू लखिय जु दोष विशेष।
तिरस्कार भूषण कहैं जिनकी सुमति अशेष॥ (मतिराम)

लेश

जहां इष्ट वस्तु का साधक होने के कारण दोष को गुण या अनिष्ट वस्तु का साधक होने से गुण को दोष मान लिया जाता है वहां 'लेश' अलङ्कार होता है।

निर्गुनता जग धन्य है धिक गुन-गौरव ताहि।
और विटप सुख से रहैं चन्दन तरु कटि जाहिँ॥

यहां 'निर्गुणता' रूप दोष को गुण मान लिया गया है। यहां उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास भी है।

कैद होत सुक सारिका मधुरी वानि उचारी।

यहां 'मधुर वाणी' रूप गुण को बन्धन रूप अनिष्ट का साधक होने से दोष मान लिया गया है।

सुख के माथे सिलि परै, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय॥

यहां उत्तरार्ध मे दुःख रूप दोष को भगवान् की स्मृति का हेतु होने से गुण मान लिया है इसलिये 'लेश' है। परन्तु पूर्वार्ध में सुख रूप गुण का तिरस्कार किया गया है, क्योंकि वह हरिनाम को भुला देता है, इसलिये 'तिरस्कार' है।

---

१ जहाँ दोष गुन होत है, जहाँ होत गुन दोष।
तहाँ लेस यह नाम कहि वरनत कवि मति-कोप॥ (मतिराम)

तद्गुण[1]

जहां वस्तु अपने गुण को छोड़कर स्वसमीपवर्ती दूसरे पदार्थ के गुण को ग्रहण करले वहां 'तद्गुण' अलङ्कार होता है।

गई विशद-रग रुचिरई, भई अरुन छवि नौल।
लै मुक्ता कर मे करति, तू मूगा को मौल॥

यहां नायिका के हाथ पर रक्खे हुए मोती ने अपना श्वेत गुण छोड़कर नायिका के हाथ का रक्त गुण ले लिया। इसलिये तद्गुण है।

प्रथम पूर्वरूप[2]

जहां वस्तु दूसरे का रूप छोड़कर फिर अपना रूप ग्रहण करले वहां प्रथम 'पूर्वरूप' होता है।

किसी २ आचार्य के मत से 'प्रथम पूर्वरूप' 'तद्गुण' का ही भेद है, अलङ्कारान्तर नहीं।

---

१ जहा आपनो रग तजि, लेत और को रग।
तद्गुन तह वर्नन करत, जे कवि बुद्धि उतग॥ (मतिराम)

२ जहा और को रग तजि, बहुरि आपनौ लेत।
वरनत पूरवरूप तहँ, कवि मतिराम सचेत॥ (मतिराम)

मुकुतहार हरि के हिये, मरकत मनिमय होत ।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत ॥

स्वभावतःश्वेत मोतियों का हार, घनश्याम भगवान् कृष्ण के वक्षःस्थल की परछाईं से मरकतमनिमय-नीलवर्ण हो गया। परन्तु भगवती राधिका की मुस्कराहट से फिर वह श्वेत का श्वेत हो गया । कविसम्प्रदाय में मुस्कराहट का श्वेत रूप माना जाता है ।

सेत कमल कर लेत ही, अरुन कमल छवि देत ।
नील कमल निरखत भयौ, हंसत सेत को सेत ॥

श्वेत कमल हाथ में लेते ही हाथ की लाली से रक्तकमल की शोभा देने लगा—लाल हो गया। परन्तु जब उसे राधिका जी ने अपनी आंखों से देखा तो वह नीलकमल बन गया अर्थात् भगवती राधिका की कजरारी आंखों की छाया पड़ने से नीला पड़गया, परन्तु उसके इस बहुरूपियेपन पर ज्योंही राधिका जी मुस्कराई तो वह फिर सफ़ेद का सफेद हो गया।

दूसरा पूर्वरूप[1]

वस्तु के विकृत होजाने पर भी यदि किसी दूसरे कारण से पूर्वावस्था बनी ही रहे तब 'दूसरा पूर्वरूप' होता है ।

---

१ प्रगटित पूरब दसहि को, जहँ अनुवर्तन होत ।
दूजो पूरबरूप तहँ, बरनत पंडित-गोत ॥ (मतिराम)

वदन-चन्द की चाँदनी, देह-दीप की जोति ।
राति बितेहू लाल वहि, भौन राति सी होति ॥

रात बीत जाने पर भी उस भवन में पूर्ववत् रात बनी ही रहती है, क्योंकि वहा नायिका के मुखचन्द्र की चाँदनी और उसके देहरूप दीपक की ज्योति विद्यमान है । चाँदनी और दीपक रात में ही जगमगाते हैं ।

मनिमय भूषन छोरहूँ, दीप बुझायहुँ स्याम ।
वा नवधनि के वदन सों, रहत उँजेरो धाम ॥

यहा भी पूर्वरूप है ।

अतद्गुण

अपने समीपवर्ती वस्तु के गुण को ग्रहण न करने में 'अतद्गुण' अलङ्कार होता है ।

लाल ! चित्त अनुराग सौं, रँगत रोज सब अग ।
तऊ न छोड़त रावरो, रूप साँवरो रग ॥ (मतिराम)

राधिका जी अपने अनुराग (प्रेम और लाल रंग) से कृष्ण भगवान् को नित्य रँगती है, फिर भी वे श्याम रूप नहीं छोड़ते ।

---

२ जहा सग मे और को, रग कछू नाहिं लेत ।
तहा अतद्गुण कहत हैं, कवि जन बुद्धि-निकेत ॥ (मतिराम)

गङ्गाजल सित अरु असित, यमुना जलहु नहात ।
राजहंस ! तव धवलता, बढत न तथा घटात ॥

(का० क० हु०)

श्वेत गङ्गाजल में और नीले यमुना जल में गोते लगाने वाला श्वेतवर्ण का राजहंस ज्यों का त्यों रहता है, गङ्गा में नहाने से उसकी श्वेतता बढ़ती नहीं, यमुना में नहाने से वह नीला नहीं हो जाता। यहा भी गङ्गा यमुना का गुण न लेने के कारण 'अतद्गुण' ही है। 'अतद्गुण' विशेपोक्ति का ही एक भेद है ऐसा किसी का मत है।

अनुगुण[1]

जहां किसी वस्तु का अपना गुण समानगुणवाली दूसरी वस्तु के संसर्ग से और अधिक बढ़ जावे वहां 'अनुगुण' अलङ्कार होता है।

मुक्तामाल हिय हासते सेत अधिक ह्वै जाय ।

मोतियों का हार स्वभावतः सफ़ेद होता है, वह सफ़ेद गुण वाले हास से मिल कर और अधिक सफ़ेद हो गया।

---

1 सम रुचि सगति और के, बढ़त आपनौ रग।
अनुगुन तासौं कहत हैं, जे कवि बुद्धि उतङ्ग ॥ (मतिराम)

बिरी अधर अजन नयन मॅहदी पग अरु पानि ।

तन कचन के आभरन लसत सरस छवि खानि ॥ (मतिराम)

यहा भी अधर, नयन, हाथ पांव और शरीर का रग क्रमश पान की बीड़ी, अञ्जन, मेंहदी, और सोने के आभूपणों से अधिक हो गया है, इसलिये 'अनुगुण' अलङ्कार है ।

मीलित[1]

जहां अज्ञात वस्तु के चिह्नों का ज्ञात वस्तु के चिह्नों से अत्यन्त सादृश्य होने के कारण भेदज्ञान न हो और भेदज्ञान न होने के कारण उनसे (चिह्नों से) अज्ञात वस्तु का अनुमान न किया जा सके वहां 'मीलित' अलङ्कार होता है ।

पान-पीक अधरान में सखी लखी नहिं जाय ।

कजरारी अखियान मे कजरा री [1] न लखाय ॥

यहा अधर और आखें ज्ञात वस्तु हैं, लाली और श्यामता उनके चिह्न है, पान की पीक और काजल अज्ञात वस्तु हैं, उपर्युक्त लाली और श्यामता ही उनके भी चिह्न हैं, इन चिह्नों का अत्यन्त सादृश्य के कारण परस्पर भेद ज्ञान नहीं होता,

---

१ एकरूप है जाति मिलि, जहाँ होत नहिं भेद ।

बरनत मीलित है तहा, जिनकी बानी वेद ॥

भेद ज्ञान न होने से, उनके (लाली और श्यामता के) द्वारा पान की पीक और काजल का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। अर्थात् यह ज्ञान नहीं होता कि नायिका ने पान खाया हुआ है और आंखों में काजल लगाया हुआ है। देखने वाला यह समझ लेता है कि इस के अधर स्वभावतः लाल हैं और आंखें भी स्वभावतः श्याम हैं।

नृप! तेरे भय भजि वसत हिम-गिरि-गुह अरि जाय।
कम्पित पुलिकत रहत तउ, भीत न काहि लखाय॥

किसी राजा के शत्रु उसके डर से भाग कर हिमालय की गुहाओं में छिपकर रहने लगते हैं और वहां भी भय के मारे उनके रोंगटे खड़े रहते हैं और वे कांपते रहते हैं, परन्तु तो भी 'ये डरे हुए हैं' ऐसा अनुमान कोई नहीं करता, क्योंकि रोंगटे और कम्प ही तो भय के चिह्न हैं, ये दोनों ठण्ड से भी पैदा हो जाते हैं, हिमालय वर्फ का पहाड़ है उसकी गुफ़ाएं ठण्डी हैं ही, इसलिये अनुमान करने वाले यही समझ लेते हैं कि ठण्ड के कारण ही ये काँप रहे हैं और रोमाञ्चित हो रहे हैं।

प्रथम उदाहरण मे-लाली और श्यामता अधर और आंखों के स्वाभाविक चिह्न हैं, द्वितीय उदाहरण में रोमाञ्च और कम्प आगन्तुक चिह्न हैं-किसी बाहरी कारण से पैदा हुए हैं।

वरन वास सुकुमार तन सब विधि रहा समाय।
पॅखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय॥

तनक नजर फेरे कहूँ मिलत सुहेरे नाहिं।

सरद-मयङ्क-मुखी दुरी सरद जुन्हाई माहिं ॥ (वि स)

यहाँ भी भेदज्ञान न होने के कारण 'मीलित' है।

सामान्य[1]

सदृश गुणों के कारण यदि प्रकृत वस्तु का अप्रकृत वस्तु से भेद प्रतीत न हो तब 'सामान्य' अलङ्कार होता है।

'नाहिं फ़रक श्रुति-कमल अरु हरिलोचन अनिमेष।

यहाँ कान में धारण किये हुए कमल से निमेषरहित भगवान् के नेत्रों का भेद प्रतीत न होने से 'सामान्य' अलङ्कार है। कमल अप्रकृत और नेत्र प्रकृत हैं, दोनों सदृश गुण वाले हैं।

रतनन के थभन घने लखि प्रतिबिम्ब समान।

सक्यो न अगद दशमुखहि सभा माँहि पहिचान ॥

अङ्गद जब रावण की सभा में गया, तब वह असली रावण को पहचान नहीं सका, क्योंकि सभा के रत्नों के खम्भों में रावण के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे, वे सब के सब रावण के सदृश ही थे, इसलिये पता नहीं लगा कि असली रावण कौन है। यहां भी सादृश्य के कारण भेद प्रतीति न होने से 'सामान्य' है।

---

1 भिन्न रूप हूँ मैं जहँ पैए कछु न विसेस।

तहा कहत सामान्य हैं, पण्डित लोग अमेस ॥ (मतिराम)

जटित जवाहिर तन झलक मिलि मसाल के जाल।
नैक नहीं जानी परत यह मसाल यह बाल ॥ (वि स)

ग्रीषम दुपहरी मैं हरि को मिलन चली,
जानि जाति नारि ना दवारि जुत वन मे। (मतिराम)

अहो कंज के पुंज मे नारि के नैन मै ना पिछानूं।
(हरिराम)

ये भी 'सामान्य' के उदाहरण हैं।

मीलित और सामान्य का भेद

'मीलित' में उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु निकृष्ट गुण वाली वस्तु को छिपा लेती है, उसका बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। जैसे-मीलित के प्रथम उद्धाहरण में (२७९ पृ० पर) अधर की रक्तिमा ने पान की पीक को बिलकुल छिपा लिया है, इसी तरह आँखों की स्वाभाविक श्यामता ने काजल को एक दम तिरोहित कर दिया है। द्रष्टा के हृदय में पीक और काजल की बुद्धि पैदा ही नहीं होती।

'सामान्य' में दो वस्तु पृथक् पृथक् प्रतीत तो होती हैं, परन्तु उनका भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे—सामान्य के प्रथम उदाहरण में कमल और आँख दोनों प्रतीत तो अवश्य होते हैं परन्तु किसी भेदक धर्म का ज्ञान न होने से 'यह कमल है और यह आँख' यह प्रतीत नहीं होता। इसी तरह दूसरे

उदाहरण में रावण और उसका प्रतिबिम्ब दीखते तो अवश्य हैं परन्तु उनमें कौन असली रावण है और कौन प्रतिबिम्ब है यह पता नहीं लगता।

उन्मीलित

'मीलित' में यदि किसी कारण से भेद प्रतीत हो-जाय तब 'उन्मीलित' अलङ्कार होता है।[1]

सरद चादनी में प्रगट, होत न तिय के अंग।
सुनत मंजु मंजीर धुनि, सखी न छोडत संग॥ (मतिराम)

यद्यपि शरद् ऋतु की चादनी में नायिका के अङ्ग दिखाई नहीं पड़ते तथापि पाइजेवों की मधुर ध्वनि से उनका पता लग जाता है।

शिवसरजा तुव सुजस मे, मिले धवल छवि तूल।
बोल बासतें जानिये, हंस चमेली फूल॥
मिलि चंदन-वेदी रही गोरे मुख न लखात।
ज्यौं ज्यौं मदलाली चढै त्यौं त्यौं उघरत जात॥

इत्यादि भी उन्मीलित के ही उदाहरण हैं।

---

१ जहँ मीलित मे हेतु लहि, कछुक भेद बिलगाय।
उन्मीलित, सुरसरि मिले ज्यों जमुना लखि जाय॥ (अ० म०)

विशेषक[1]

'सामान्य' में यदि किसी कारण से भेद प्रतीत हो जाय तब 'विशेषक' अलङ्कार होता है।

आई फूलनि लैन कौ, चलो बाग मैं लाल।
मृदु बोलनि सौं जानिए, मृदु बेलिनि मे बाल॥

यहां कोमल बेलों के बीच में कोमल शरीर वाली नायिका यद्यपि पहिचानी नहीं जाती तथापि जब वह मृदु बोल बोलती है तब पहिचान ली जाती है।

जाने तिय-मुख अरु कमल, शशि-दर्शन ते साँझ॥
कागन मे मृदु बानि तैं, मैं पिक लियो पिछानि॥
मनमोहन मनमथन को द्वै कहतो को जान।
जो इनहू कर कुसुम को होतो बान कमान॥

ये भी 'विशेषक' के उदाहरण हैं।

उन्मीलित और विशेषक का भेद।

'उन्मीलित' 'मीलित' का उलटा है। जो वस्तु अपने से उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु में लीन हो गई है, पृथक् नहीं दिखाई देती, वह यदि किसी विशेष कारण से पृथक् दिखाई देने लगे तब 'उन्मीलित' होता है। देखो पृ० २८३। सरद की चाँदनी

---

१ सामान्य हि में जहँ कछू, कैसहुँ भेद जनाय।
ताहि विशेषक कहत हैं, सब कवि-कोविद राय॥ (अ० म०)

में नायिका के अङ्ग छिप गए थे, पृथक् नहीं दिखाई देते थे, परन्तु वे ही मञ्जीर की ध्वनि से अलग दिखाई देने लगे।

'विशेषक' 'सामान्य' का उल्टा है। जिन वस्तुओं में परस्पर अत्यन्त सादृश्य होने के कारण भेद नहीं प्रतीत होता है उनका यदि किसी विशेष कारण से भेद प्रतीत होने लगे तब 'विशेषक' होता है। देखो पृ० २८४, 'विशेषक' का दूसरा उदाहरण। स्त्री का मुख और कमल अत्यन्त सदृश है। उन्हें देखकर यह पता नहीं लगता कि इनमें कौन मुख है और कौन कमल है। परन्तु साँझ होते ही पता चल जाता है। क्योंकि साँझ को कमल तो मुकुलित हो जाता है और स्त्री का मुख विकसित ही रहता है।

उत्तर

उत्तर शब्द का साधारण अर्थ है प्रश्न का जवाब। यह जवाब या उत्तर जहां चमत्कार युक्त हो वहां 'उत्तर' अलङ्कार होता है।

उत्तर में चमत्कार कई प्रकार से होता है, इसलिये इसके अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रथम उत्तर

जहां उत्तर से प्रश्न की कल्पना की जाय वहां 'प्रथम उत्तर' होता है।

श्री अप्पय दीक्षित के मत से जहां अभिप्रायसहित गूढ उत्तर हो वहां 'उत्तर[1]' अलङ्कार होता है। कोई कोई इसे 'गूढोत्तर[2]' भी कहते हैं।

दोनों के मत से उदाहरण—

वणिक ! कहां गजदन्त इत व्याघ्र चर्म हू नाहिँ।
ललितालकमुख सुतवधू जौ लौं या घर माहिँ॥

हे वैश्य ! जबतक यह हमारी पुत्रवधू यहां विराज रही है, तब तक हमारे यहां हाथीदाँत और व्याघ्र-चर्म कहाँ ? अर्थात् दुर्लभ हैं। यह किसी दीन व्याध का वैश्य के प्रति उत्तर है। इस उत्तर से 'क्या तुह्मारे यहां हाथी-दाँत और व्याघ्र-चर्म हैं ? मैं खरीदना चाहता हूं' इस प्रश्न की कल्पना की जाती है। क्योंकि इस प्रश्न की कल्पना किये विना व्याध-का वैश्य के प्रति वचन संगत नहीं होता। 'हमारा पुत्र अपनी स्त्री पर इतना आसक्त है कि उसको शिकार खेलने की फुरसत नहीं, हाथी-दाँत और व्याघ्र-चर्म आवे तो कहां से आवें' यह उत्तर का गूढ अभिप्राय है।

श्री अप्पयदीक्षित के मत से 'प्रथम उत्तर' प्रश्नपूर्वक भी होता है। उदाहरण जैसे—

---

१ किंचिदाकूतसहित स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्॥ अप्पयदीक्षितः।

२ अभिप्राय सौं सहित जो उत्तर कोऊ देय।
तिहिं गूढोत्तर कहत हैं सुकवि सरस्वति सेय॥ (मतिराम)

लाल ! कहा लाली परी लोयन कोयन माँह ।

लाल तिहारे दृगन की परी दृगन मे छाँह ॥

पूर्वार्ध में प्रश्न कह दिया गया है । उत्तरार्ध का उत्तर गूढाभिप्राय युक्त है । तुम्हारे नेत्रों की लाली ही मेरी आंखों की लाली का कारण है-यह यहा गूढ अभिप्राय है । रात किसी दूसरी जगह जागते हुए व्यतीत करने के कारण नायक की आँखें लाल थीं । उस लाली से नायिका ने नायक का अपराध अनुमान कर लिया, और क्रोध से उसकी आँखों के डोरे लाल हो गए ।

दूसरा उत्तर

जहां अनेक प्रश्नों के अनेक अप्रसिद्ध उत्तर दिये जायँ वहाँ भी 'उत्तर' अलङ्कार होता है ।

काह लाभ ? सँग गुणी, काह दुःख ? सगति दुरमति,
का छति ? समया चूक, निपुणता काह ? धरमरति ।
कौन शूर ? इन्द्रियन जीत, तिय को ? अनुकूला,
काह अचल धन जगत माँह ? विद्या सुख-मूला ।
का सुख ? 'शिवसम्पति सुकवि' वास नहीं परदेश को,
राज्य काह ? निज मन्त्रयुत रहिवो सदा स्वदेश को ।

यहा अनेक प्रश्नों के अनेक अप्रसिद्ध उत्तर दिये गए हैं ।

यद्यपि इस प्रकार प्रश्नोत्तर 'परिसंख्या' में भी होते है, परन्तु उस में उत्तर का तात्पर्य दूसरे के निषेध मे होता है, (देखो पृष्ठ २४७, २४८) 'उत्तर' अलङ्कार में निषेध में तात्पर्य नहीं होता किन्तु कथित वस्तु में ही, यदि निषेध में तात्पर्य होतो 'परिसंख्या' ही मानी जायगी।

इसी प्रकार—

कहा विषम है ? दैवगति, सुख कह ? तिय गुनवन्त।
का दुर्लभ ? गुनगाहक हि, दुख का ? नेह अनन्त ॥

इत्यादि भी 'द्वितीय उत्तर' के उदाहरण समझने चाहियें।

तीसरा उत्तर[1]

जहां प्रश्न वाक्य में ही उत्तर बतादिया जाय या अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो वहां भी 'उत्तर' अलङ्कार होता है। इसको कोई 'चित्रोत्तर' भी कहते है।

को सबसाधन इष्ट है मेटन सब दुख द्वन्द्व।
को कहियो दुःखित रहै देखत राकाचन्द ॥ (भा० भू०)

---

१ जहँ बूझत कछु बात कौं, उत्तर सोई बात।
चित्र कहत मतिराम कवि, सकल सुमति अवदात।
बहुती बातनि को जहाँ उत्तर दीजे एक।
चित्र बखानत हैं तहाँ कविजन बुद्धि विवेक ॥ (मतिराम)

यहां 'सब इष्टों का साधन और दु:खों का नाश करने वाला कौन है ? यह प्रश्न पूर्वार्धे में किया गया है, इसका उत्तर भी 'कोस-बसा-धन' (खज़ाने में रहने वाला धन) यह प्रश्न वाक्य ही में दे दिया गया है। उत्तरार्ध में 'चन्द्रमा को देखकर कौन दुखी रहता है ? यह प्रश्न है, उत्तर भी 'कोक-हियो' (चकवा का हृदय) यह उसी प्रश्न वाक्य में बतादिया गया है।

इसी प्रकार—

अलि रस-लोभी को महा ? को समान नृप होइ।
दिन सजोगी को कहै रैनि वियोगी सोइ ॥

यहा भी—हेसखी ! रसका लोभी कौन ? राजा के समान कौन ? दिन संयोगी कौन ? इन तीनों प्रश्नों के उत्तर-अलि-भौंरा, कोसमान—कोशवान्—खजाने वाला और कोक-चकवा, प्रश्न वाक्यों में ही सूचित कर दिये गए हैं।

समरभूमि महँ लरत को ? को तम-रिपु पर कूर।
कविजन महँ सिरमौर को ? निपुन भनत वह 'सूर' ॥

यहां तीन प्रश्नों का चौथे पाद में 'सूर' यह एक ही उत्तर है। यहां सूर शब्द का अर्थ है—शूर, सूर्य और सूरदास।

को हरि-वाहन ? जलधिसुत ? को है ज्ञानजहाज ? ।
तहा चतुर उत्तर दियो, एक वचन 'द्विजराज' ॥

यहा भी तीन प्रश्नों का 'द्विजराज' यही एक उत्तर है। 'द्विजराज' शब्द का अभिप्राय यहा-गरुड, चन्द्रमा और ब्राह्मण इन अर्थों से है।

इसी प्रकार—

राजा प्यासा क्यों गदहा उदासा क्यों ? लोटा न था।
अनार क्यों न चक्खा वज़ीर क्यों न रक्खा ? दाना न था।
पांस क्यों न खाया गीत क्यों न गाया ? गला न था।

इत्यादि खुसरो के 'दो सखुना' हिन्दी के उदाहरणों मे भी यह 'उत्तर' अलङ्कार होसकता है।

सूक्ष्म

दूसरे का गूढ अभिप्राय समझकर यदि किसी चेष्टा के द्वारा उसका उत्तर दिया जाय तब 'सूक्ष्म' अलङ्कार होता है।

बैठी हुती सखियान के बीच पगी-रस-चोपर-राग के भारी,
आइ गए तित ही मनमोहन सङ्ग सखान लिए सुखकारी।
दीठि सों दीठि जुरी दुहुँवॉ करि चातुरी प्रीति छटा विसतारी,
मुद्रित कञ्ज सो स्याम कियो अलकैं मुख पै विथुराइ जु प्यारी॥
(अलङ्कार आशय)

यहां 'मै रात्रि में तुम से मिलना चाहता हूं' यह भगवान् कृष्ण का गूढ अभिप्राय राधिका जी ने उन (श्रीकृष्ण) के दिखाए हुए मुद्रित कमल से समझा, और फिर अपने मुख पर केश फैला कर 'चन्द्रास्त के समय मै आप से मिलूंगी' यह उत्तर दिया।

सूछम कृति लखि आन की, करै क्रिया कछु भाय।
ताका नाम बखानहीं, सूछम सब कविराय॥ (अ० म०)

लखि गुरु-जन-बिच कमल सों सीस छुवायो स्याम।
हरि सम्मुख करि आरसी हिये लगाई वाम ॥ (विहारी)

यह भी 'सूक्ष्म' का उत्तम उदाहरण है।

पिहित[1]

दूसरे के गूढ वृत्तान्त को जानकर किसी चेष्टा के द्वारा उसको यह सूचित कर देना कि मैं तुम्हारी वात जान गया हूं—'पिहित' अलङ्कार कहलाता है।

अति अनीठ पति-पीठ-छत, लखि छत्रिनि रिसियानि।
जल अन्हान लौं दै धरे, लहॅंगा ओढनी आनि ॥
(भारती भूषण)

किसी क्षत्रियानी ने अपने पति की पीठ पर घाव देखकर उसके स्नान करते समय उसके आगे लहॅंगा और ओढ़नी लाकर रखदी। यहाँ लहँगा और ओढ़नी लाकर रखदेना रूप चेष्टा के द्वारा यह छिपा हुआ वृत्तान्त प्रकाशित किया गया है कि तुम 'लड़ाई से भाग कर आए हो'। लड़ाई में पीठ दिखाने पर ही पीठ पर घाव लग सकते हैं।

सूक्ष्म और पिहित का भेद

'सूक्ष्म' में किसी के गूढ अभिप्राय को समझ कर चेष्टा के द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है। पिहित में किसी के गूढ

---

1 जहाँ छिपे पर वृत्त को, समुझि करै कछु काज।
जाते प्रकट जानिबो, सो पिहित कविराज ॥ (अ० म०)

वृत्तान्त को किसी चेष्टा के द्वारा उसके प्रति प्रकट किया जाता है।

व्याजोक्ति[1]

प्रकट हुई बात को किसी बहाने से छिपा लेना 'व्याजोक्ति' कहलाता है।

अश्वारोही भू गिर्‌यो, फटे वस्त्र समुदाय।
प्रगट भये फिर यों कही, झाड़ी उरझ्यो जाय॥

यद्यपि वस्त्र फटने के कारण सवार का घोड़े से गिरना प्रकट हो गया है, फिर भी यहां झाड़ी मे उलझने का बहाना करके उसने अपना घोड़े पर से गिरना छिपा लिया है।

तुहिना चलने अपने कर सों हर गौरी के लै जब हाथ जुटाये।
तन कम्पित रोम उठे शिव के विधि भङ्ग भये अति ही सकुचाये॥
गिरि के करमे बड़ो शैत्य अहो कहि यों वह सात्त्विक भाव छिपाये।
वह शङ्कर हो मम शङ्कर जो हँसि के गिरि के रनिवास लखाये॥

(का० क० द्रु०)

यहां कन्यादान के समय पार्वती के करस्पर्श से उत्पन्न

---

१ और हेतु वचननि जहा, आकृति–गोपन होय।
ब्याजउक्ति तहँ कहत कवि, ग्रन्थ समुद्र विलोय॥ (मतिराम)

हुए कम्प आदि सात्त्विक भावों को महादेव जी ने पर्वतराज हिमालय के हाथ के अत्यन्त ठण्डे होने का वहाना करके छिपाया है।

छेकापह्नुति और व्याजोक्ति का भेद

छेकापह्नुति में शब्दों का दूसरा अभिप्राय वता कर वास्तविक वस्तु छिपायी जाती है देखो पृ० ११४। व्याजोक्ति में आकार का दूसरा हेतु वता कर असली बात छिपायी जाता है—जैसे कोई आदमी डर से काँप रहा है। वह अपने भय को छिपाने के लिये कहता है—मुझे जाड़ा लग रहा है। यहा कम्प का दूसरा हेतु वता कर उसने अपने भय को छिपा लिया।

लोकोक्ति

जहां प्रसङ्गवश किसी 'लोकोक्ति' का विन्यास किया जाय वहां 'लोकोक्ति' अलङ्कार होता है।

सोवै कितै चकोर तू, सफल करै किन नैन।
चारि दिना यह चाँदनी, फिरि अँधियारी रैन॥

लह्यो न जग सुख, ब्रह्म को, धर्‍यो न हिय में ध्यान।
घर को भयो न घाटको जिमि धोबी को स्वान॥

---

१ जहँ कहनावति अनुकरन लोक उक्ति मतिराम।

सुबह साँझ के फेर में गुज़री उमर तमाम।
द्विविधा मँह खोये दुऊ माया मिली न राम॥
चतुरानन की चूक सब कहलों कहिये गाय।
सतुआ मिलै न सन्त को गनिका लुचई खाय॥

इन पद्यों के उत्तरार्ध में लोकोक्तियों का विन्यास किया गया है।

'भाषाभूषण' और 'कुवलयानन्द' आदि के उदाहरणों से विदित होता है कि 'लोकोक्ति' अलङ्कार में 'लोकोक्ति' पद से केवल कहावतें नहीं ली जातीं, किन्तु 'मुहावरे' भी लिये जाते हैं। लाला भगवान् दीन जी ने अंग्रेज़ी साहित्य के अनुसार इस अलङ्कार का नाम 'इडियम्' लिखा है. वह भी हमारे उपर्युक्त कथन का ही पोषक है, क्योंकि इडियम् (Idiom) शब्द का अर्थ ही 'मुहावरा' है।

नैन मूंदि कछु मासलों सहि है विरह विषाद। (भाषाभूषण)

चुपचाप सहन करने के अर्थ में 'आँखें बन्द करके सहन करना' यह हिन्दी का मुहावरा है, न कि लोकोक्ति (कहावत) है। इस प्रकार जहां चमत्कारी मुहावरों का प्रयोग किया जाय, वहां भी यह लोकोक्ति अलङ्कार हो सकता है।

जैसे—'सती नारि का पति बिलगाना टेढ़ी खीर पचाना है।'

'मैं तृन सो गन्यो तीनहु लोकनि,

तू तृन ओट पहार छिपावै' इत्यादि।

छेकोक्ति

जहां लोकोक्ति का प्रयोग किसी गूढ अभिप्राय से युक्त हो वहाँ 'छेकोक्ति' अलङ्कार होता है।

जानतु हैं जु भुजङ्ग ही भुवि भुजङ्ग की खोज।

किसी ने किसी से किसी के विषय में कुछ पूछा, उसने समीपस्थित पुरुष की ओर इशारा करके 'यही इस बात को बता सकता है' ऐसा कह दिया और फिर 'जानतु हैं ' इस लोकोक्ति के द्वारा उसका समर्थन कर दिया। लोकोक्ति का तात्पर्य यही है कि ये दोनों हर एक कार्य में साथ रहते हैं, इसलिये ये ही आपस में एक दूसरे के विषय मे कह सकते हैं, और दूसरा कोई नहीं कह सकता। दूसरा व्यङ्ग्य अभिप्राय यह है—'परस्त्रीगमनादि गुप्त कुकृत्यों में भी ये दोनों साथ रहते हैं"। इस अर्थ को बताने में मुख्यतया 'भुजङ्ग' पद सहायक है। क्योंकि 'भुजङ्ग' सॉप और जार दोनो को कहते हैं।

---

१ जहँ पदार्थ की कल्पना लोक उक्ति में होय।

छेकोकति तासों कहैं कवि-कोविद सब कोय॥ (अ० म०)

स्वभावोक्ति

जहां किसी वस्तु के स्वभाव का चमत्कार युक्त वर्णन हो वहां 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार होता है।

इसका दूसरा नाम 'जाति' भी है।

बाल-बृन्द हरसत उर दरसत, चहुं चलि आवैं।
मधुर मधुर मुसकाइ, रहस बतियां वतरावैं॥
तरुवर डार हलावहीं, 'धौरी' 'धूमरि' टेरि।
सुन्दर राग अलापहीं भौंरा चकई फेरि॥
विविध क्रीड़ा करैं॥

(सत्यनारायण)

यह बाल-स्वभाव का वर्णन है।

भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाय।
भागि चलत किलकात मुख दधि ओदन लपटाय॥

यह वानर स्वभाव का वर्णन है।

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपते[2] भौंर झौंर[3] मधु-अंध॥

यह वसन्त स्वभाव का वर्णन है।

---

१ जाको जैसो होय सो वरनत जहाँ सुभाव।
तहाँ जाति यह नाम कहि वरनत सब कविराव॥ (मतिराम)

२ एक दम टूट पड़ते हैं। ३ झुण्ड।

भाविक[1]

भूत और भविष्यत् वस्तुओं का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन करने में 'भाविक' अलङ्कार होता है।

जहाँ जहाँ नागरि नवल गई निकुंजमझाइ।
तहाँ तहाँ लखियत अजौं रही नई छवि छाइ॥

(वि० स०)

यहां भूत का 'अजौं' पद से प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन है।

कही जाय क्यों अलि भली छवि प्रति-अङ्ग अनूप।
भावी भूषन भारहू लसत अवहि तव रूप॥

यहा भविष्यत् का 'अवहि' पद से प्रत्यक्ष के समान वर्णन है।

उदात्त[2]

जहां किसी की लोकातिशायी सम्पत्ति का वर्णन हो या किसी महापुरुष का चरित्र वर्णनीय वस्तु का अङ्ग हो वहां 'उदात्त' अलङ्कार होता है।

---

१ जहा भयो भावी अरथ वरनत है प्रत्यक्ष।
तहँ भाविक सब कहत हैं जिनकी मति है अच्छ॥ (मतिराम)

२ सपति की अधिकाइ जो अरु उपलक्षण और।
सो उदात्त है भाँति का वरनत कवि सिरमौर॥ (मतिराम)

मरकत मनिमय रम्य हर्म्य जहँ सुरन लुभावत ।
पद्मराग पुखराज जटित सोपान सुहावत ॥
विना जलद जहँ इन्द्रचाप छवि नीकी छाजै ।
स्वरग-लजावनि-हारि पुरी साकेत विराजै ॥
(मैथिलीशरण)

इस पद्य में अयोध्या की लोकातिशायी सम्पत्ति का वर्णन है।

यह अरण्य वह है, जहां मानि पिता के बैन।
बसत राम एकहि कियो, हनन निशाचर-सैन ॥

यहां प्रधान रूप से वर्णनीय वस्तु दण्डकारण्य है, भगवान् राम का चरित्र उसका अङ्ग हो गया है, दण्डकारण्य की महिमा बताने के लिये ही कवि ने निशाचर-हनन रूप भगवान् के चरित्र का वर्णन किया है।

निरुक्ति

जहां किसी नामका रूढ (प्रसिद्ध) अर्थ त्यागकर यौगिक अर्थ लिया जाय वहां 'निरुक्ति' अलङ्कार होता है।[1]

---

1 जहँ जोग ते नाम की, अर्थ कल्पना और।
बरनत तहां निरुक्ति है, कवि-कोविद सिरमौर ॥ (मतिराम)

मोह न राख्यो प्राण सों, भारत-हित तुम आज ।
तुम कहँ मोहन ! सच कहैं, मोहन सन्त-समाज ॥

यहां 'मोहन' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लिया गया है ।

मद छोड्यौ अरु मोह सों, मुख फेर्यौ तुम धीर ।
खरे मदन मोहन बने, मालवीय ! द्विज-वीर ॥

यहां भी 'मदनमोहन' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लिया गया है ।

प्रतिषेध

किसी विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के लिये जहां प्रसिद्ध निषेध का अनुकीर्तन (पुनः कथन) किया जाय वहां 'प्रतिषेध' अलङ्कार होता है ।[1]

तुम एकहि अघहरन, हौं, बहु अधमन सिरताज ।
द्विरद न जानहु जाइगी, वरद ! विरुद की लाज ॥

यह किसी भक्त की भगवान् के प्रति उक्ति है । भक्त कहता है भगवन् ! मुझे गजेन्द्र न समझना, यद्यपि भक्त का

---

[1] जहाँ प्रसिद्ध निषेध को, अनुकीरतन प्रकास ।
तहा कहत प्रतिषेध है, कविजन बुद्धि विलास ॥ (मतिराम)

गजेन्द्र न होना प्रसिद्ध है, तथापि 'मैं गजेन्द्र से भी बढ़ कर पापी हूं' इस विशेष अभिप्राय को बताने के लिये 'द्विरद न जानहु' यह निषेध किया है।

तिच्छन-बानविनोद यह कितव ! न चौपर खेल।

यह भीमसेन की शकुनि के प्रति उक्ति है। ओ जुआरी! यह चौपड़ का खेल नहीं है, यह तो तीखे बाणों से खेलना है, यहां 'युद्ध चौपड़ का खेल नहीं है' यह निषेध प्रसिद्ध है, तथापि 'न चौपर खेल' यह निषेध 'जूए में ही तेरी धोखेबाज़ी चल सकती है, यहाँ नहीं' इस अभिप्राय को बताने के लिये किया गया है।

विधि[१]

जहां किसी विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के लिये सिद्ध वस्तु का फिर विधान किया जाय वहां 'विधि' अलङ्कार होता है।

खलनि के खंडिबे कौं मंगन के मंडिबे कौ,

महावीर भावसिंह भावसिंह होत है।

---

१ जहां सिद्धि ही बात को, करत प्रसिद्ध बखान।
विधि भूषन तहँ कहत हैं, सकल सुकवि सज्ञान ॥ (मतिराम)

'भावसिंह' नृपति भावसिंह ही हो सकता है और कुछ नहीं, यह बात सिद्ध है। परन्तु फिर भी 'भावसिंह भावसिंह होत हैं' यह विधान किया गया है, इसलिये 'विधि' अलङ्कार हैं। यहा दूसरा भावसिंह पद लक्षणा से 'शूरता उदारतादि सहित भावसिंह' का बोधक होता है। भावसिंह में शूरता और उदारता का अतिशय व्यङ्ग्य है। तात्पर्य यह है कि भावसिंह में शौर्य और औदार्य का आधिक्य बताने के लिये ही भावसिंह को भावसिंह कहा गया है, देखो लक्षणा प्रकरण पृ० १२। इसी प्रकार—

सुर-दुरलभ तनु लहि वृथा, खोइ रहे सब कोइ।
हरि भजि भव तरिजात जो, मनुज मनुज सो होइ॥
(भा० भू०)

यहा भी दूसरा मनुज शब्द विवेकादि-गुण-विशिष्ट मनुज का बोधक होता है, और मनुज में विवेकादि गुणों की अधिकता बताने के लिये ही यहा मनुज को मनुज कहा गया है।

षष्ठ उल्लास

शब्दार्थोभयालङ्कार

जहां शब्द और अर्थ दोनों ही प्रधान रूप से चमत्कार के उत्पादक हों वहां 'शब्दार्थोभयालङ्कार' होता है।

पुनरुक्तवदाभास

इसका लक्षण हम शब्दालङ्कार के प्रकरण मे लिख आए हैं, देखो पृष्ठ ६१। वहां शब्दालङ्कार का प्रकरण होने से शब्द-प्रधान पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण दिया गया था, यहां उभयप्रधान पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण दिया जाता है।

वन्दनीय किहिं के नहीं वे कविन्द मतिमान्।
सुरग गये हू काव्यरस जिनको जगत जहान॥

यहां 'जगत' और 'जहान' पदों में पुनरुक्ति जैसी मालूम होती है, क्योंकि ऊपर से देखने में दोनों पद 'संसार' इस एक ही अर्थ को वताते हैं, परन्तु वस्तुतः 'जगत' शब्द का अर्थ यहा 'प्रकाशित' है और 'जहान' का 'संसार' इसलिये 'पुनरुक्तवदाभास' है।

यदि 'जगत' शब्द के स्थान में उसका समानार्थक प्रकाश उदित, प्रकट आदि कोई भी शब्द रख दिया जाय तब 'पुनरुक्तवदाभास' नहीं होगा, इसलिये इस अंश में 'जगत' इस शब्द को ही प्रधानता है, इस के बिना पुनरुक्ति प्रतीत नहीं हो सकती। 'जहान' शब्द के स्थान में यदि उसका समानार्थक कोई भी शब्द रख दें तब भी 'पुनरुक्तवदाभास' बना ही रहेगा उसमें कोई अन्तर नहीं होगा, इसलिये इस अंश में अर्थ की प्रधानता माननी होगी, शब्द की नहीं। शब्द की प्रधानता वहीं होती है जहां शब्द बदला न जा सके। अत शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता होने से यह उभयालङ्कार का उदाहरण है।

श्लिष्टपरम्परित

अद्भुत जोत महान सों, किय प्रकाश त्रय भौन।
मुक्तारत्न-सुवंश-भव, तुहि न सराहत कौन ॥

यहा राजा मे 'मुक्तारत्न' का आरोप किया गया है, इस आरोप का कारण 'सुवंश' (श्रेष्ठ कुल) में सुवंश (श्रेष्ठ वास) का आरोप है। क्योंकि मोती वास में पैदा होता है, इसलिये यह परम्परित रूपक है। सुवंश शब्द श्लिष्ट होने के कारण बदला नहीं जा सकता, इसलिये इस अंश में शब्द की प्रधानता है, 'मुक्तारत्न' शब्द को यदि बदल भी दें तब भी

अलंकार बना ही रहता है। इसलिये इस अंश में अर्थ की प्रधानता है, दोनों के प्रधान होने से यह भी उभयालंकार का उदाहरण है। 'श्लिष्टपरम्परित' का यह उदाहरण हमने अर्थालङ्कारों में भी (पृ० ८७) दिया है, परन्तु ऐसा हमने प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुरोध से किया है। प्राचीनों ने इसकी गणना अर्थालङ्कारों में की है। वास्तव में यह उभयालङ्कार है।

——:०:——

सप्तम उल्लास

संसृष्टि[1]

यह नियम नहीं है कि एक पद्य में एक ही अलकार हो, एक पद्य में अनेक अलंकार भी हो सकते हैं।

जहां एक पद्य में कई अलङ्कार हों और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध न हो, वे एक दूसरे पर आश्रित न हों, किन्तु स्वतन्त्र हों वहां अलङ्कारों की 'संसृष्टि' होती है।

जैसे तिल चावलों की खिचड़ी में तिल और चावल स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, तिल की सत्ता चावलों की अपेक्षा नहीं रखती, और चावलों की सत्ता तिलों की अपेक्षा नहीं रखती, दोनों स्वय सिद्ध हैं, इसी प्रकार जहा अनेक स्वतन्त्र अलकारों की खिचड़ी हो वहा 'अलंकार ससृष्टि' होती है।

जनम से पहले विधि ने दिये,
रजत, राज्य, रथादि तुम्हे स्वयम्।
तदपि क्यों उस को न सराहते,
मचलते चलते तुम हो वृथा॥

इस पद्य के दूसरे पाद में रेफ का अनुप्रास है, चतुर्थ मे 'चलते चलते' यह 'यमक' है, दोनों स्वतन्त्र हैं, एक दूसरे की

---

1 जुदे जुदे भासै सकल, अपनी अपनी ठाम।
तिल-तन्दुल की रीति करि, है ससृष्टि सुनाम॥ (का० प्र०)

अपेक्षा नहीं रखते। इसलिये यहां 'अनुप्रास और यमक की संसृष्टि' है।

खञ्जन, मधुकर, मीन, मृग, ये सब एक समीप।

घूंघट पट में देखिये, पाले मदन-महीप॥

यहा प्रथम पाद में केवल खञ्जन आदि उपमानों का ग्रहण किया गया है, उपमेय 'चक्षु' की चर्चा नहीं है इसलिये 'अतिशयोक्ति' है, 'मदन-महीप' में रूपक है। दोनों तिल तण्डुल के समान स्वतन्त्र हैं, इसलिये यह रूपक और अतिशयोक्ति की संसृष्टि है।

लगि दृग अंजन ढिग अलक, देत मुबारक मोद।

जनु सांपिन सुत आपनो, भेंटति भरि भरि गोद॥

आँख के अंजन के समीप लटकी हुई अलक ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई सर्पिणी अपने पुत्र को गोद में भर भर कर भेंट रही हो। यहां उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा और भकार के वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है।

मन! रमा, रमणी रमणीयता, मिलगई यदि ये विधि-योग से।

पर जिसे न मिली कविता-सुधा, रसिकता सिकता-सम है उसे॥

इस पद्य के प्रथम और चतुर्थ पाद में 'यमक' है. तृतीय में 'कविता-सुधा' में रूपक है, चतुर्थ में 'सिकतासम' में उपमा है। ये सब परस्पर निरपेक्ष हैं, इसलिये यहां इनकी संसृष्टि है।

दन्ति-कुम्भ-शोणित सनी, लसित सिंह की दाढ़।

मनु मङ्गल ससि-शृङ्ग कों, भेंटत भरि भुज गाढ़॥

यहां उत्तरार्ध में, उत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास, और वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है।

संकर

जहां दूध पानी की तरह अनेक अलङ्कारों का मिश्रण हो, अर्थात् जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाने पर पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से प्रतीत नहीं होते, इसी प्रकार जहां अनेक अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से प्रतीत नहीं होते, वहां 'संकर' होता है।

यह संकर तीन प्रकार का होता है—

(१) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर।

(२) सन्देह सङ्कर।

(३) एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर।

अङ्गाङ्गिभाव संकर

जहां अनेक अलङ्कार हों, उनमें एक प्रधान हो, दूसरा प्रधान का पोषक होने के कारण उसका अङ्ग होगया हो वहां 'अङ्गाङ्गिभावसंकर' होता है।

पवन-विकम्पित-महीरुहों के तले काँपती छाया।

चन्द्र-सिंह-हत-तिमिर-गजों की मानों खण्डित काया॥

रात्रि में वृक्षों के नीचे कापती हुई छाया में कालेपन की समता के कारण हाथियों के कटे हुए शरीर की उत्प्रेक्षा है। चन्द्र में सिंह का, तिमिर में गज का आरोप होने से रूपक है। रूपक उत्प्रेक्षा का पोषक होने से उसका अङ्ग होगया है।

---

१ पय पानी की रीति करि होयँ परस्पर लीन।

ताको संकर नाम ही भाषत परम प्रवीन॥ (का० प्र०)

पुनि नभ-सर मम कर-निकर, कमलन्हि पर कर वास ।
सोभित भयउ मराल इव, सम्भु-सहित कैलास ॥

आकाशरूपी सरोवर मे रावण के कर कमलों पर स्थित महादेव सहित कैलास पर्वत हंस के सदृश शोभित हुआ। यहां पूर्वार्ध में 'नभ' में 'सर' का और 'कर-निकर' में 'कमलो' का आरोप होने से रूपक अलंकार है। उत्तरार्ध में 'सोभित भयउ मराल इव' यह उपमा है। रूपक, उपमा का अंग है। हंस कमल सहित सरोवर में ही रहा करता है, इसलिये कैलास में हंस का सादृश्य बताने के लिये नभ में सर का और करों में कमलों का आरोप किया गया है।

अलक मुबारक तिय वदन, लटकि परी यों साफ।
खुशनवीस मुन्शी मदन, लिख्यो कॉच पर काफ़ ॥

नायिका के मुख मण्डल पर लटकी हुई अलके ऐसी प्रतीत होती है मानों सुलेखक मदन ने कांच पर काफ़ (उर्दू लिपि का एक अक्षर) लिखा हो। यहां अलकों में काफ़ की संभावना होने से उत्प्रेक्षा है और मदन मे खुश नवीस (सुलेखक) मुन्शी का आरोप होने से रूपक है। रूपक उत्प्रेक्षा का उपकारक होने से उसका अग है।

सन्देह सङ्कर

जिस पद्य में अनेक अलङ्कार प्रतीत होते हों—साधक वाधक युक्तियों से किसी विशेष अलङ्कार का निश्चय न हो सकता हो, वहां 'सन्देह-संकर' होता है।

सदेह-सकर का उदाहरण देने से पूर्व हम दो उदाहरण ऐसे देगे जहां साधक वाधक युक्तियों से अलंकार का निर्णय हो जाता है। जैसे—

जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू। नारिचरित-जलनिधि अवगाहू ॥

यहा 'नारिचरित-जलनिधि' इस पद का यदि 'नारीचरित्र रूपी जलनिधि यह अर्थ किया जाय तो 'रूपक' अलकार बनता है। यदि 'जलनिधि सदृश नारी-चरित' यह अर्थ लिया जाय तो 'उपमा' प्रतीत होती है—इस तरह स्थूल दृष्टि से यद्यपि यहा उपमा और रूपक का संदेह सकर प्रतीत होता है, तथापि यहा रूपक अलकार ही है, उपमा नहीं। क्योंकि अवगाहन (विलोडन) मुख्य रूप से द्रव पदार्थ का ही होता है, यहा जलनिधि ही द्रव पदार्थ है, उसके साथ ही 'अवगाहू' क्रिया का सम्बन्ध होना चाहिये, वह तब बन सकता है जब 'जलनिधि' प्रधान हो, जलनिधि को प्रधानता रूपकालंकार में ही प्राप्त हो सकती है। क्योंकि वह उपमान है, रूपक में उपमान को प्रधानता होती है। इसलिये अवगाहन क्रिया ही यहां रूपकालङ्कार की साधक है। हा इतनी बात अवश्य है कि 'अवगाहन' क्रिया को रूपक का साधक होने पर भी उपमा का बाधक नहीं कह सकते, क्योंकि 'अवगाहन' का लाक्षणिक अर्थ लेकर उस का सम्बन्ध नारी-चरित के साथ भी हो सकता है। इसी प्रकार—

तेरे आनन चन्द कौ, मधुर मन्द मृदु हास।

मेरे जान मनोज को, कीरति पुञ्ज प्रकास ॥ (मतिराम)

यहा 'आनन चन्द' में उपमा है, क्योंकि 'हास' मुख का ही धर्म है। इसलिये वह उपमा का साधक है। हा 'रूपक' का बाधक हास नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणावृत्ति से कथंचित् 'हास' चन्द्रमा में भी बन सकता है।

लक्ष्मी आलिङ्गन करत नृप-नारायण तोहि।

यहा 'नृपनारायण' पद में यदि 'उपमा' मानते हैं तो 'नारायण सदृश नृप' यह अर्थ करना होगा, इस अर्थ में

उपमेय 'नृप' को प्रधान मानना पड़ेगा। क्योंकि उपमा में 'उपमेय' ही प्रधान रहा करता है, आलिङ्गन क्रिया का सम्बन्ध भी प्रधान उपमेय के साथ ही होगा। परन्तु वस्तुतः आलिङ्गन क्रिया का सम्बन्ध 'नृप' उपमेय के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि 'लक्ष्मी' जैसी पतिव्रता स्त्री अपने पति नारायण का ही आलिंगन कर सकती है, स्वपति सदृश पर-पुरुष का नहीं। इसलिये 'नृप' के साथ लक्ष्मी के आलिङ्गन का सम्बन्ध न बन सकना ही यहां उपमा मानने में बाधक युक्ति है। यदि 'रूपक' मानते हैं तो उपमान 'नारायण' प्रधान रहेगा, क्योंकि रूपक में उपमान को प्रधानता होती है। आलिङ्गन का सम्बन्ध भी नारायण के साथ ही होगा, और यह सम्बन्ध युक्तियुक्त है—क्योंकि लक्ष्मी का अपने पति नारायण को आलिङ्गन करना उचित ही है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में संदेह संकर नहीं हो सकता क्योंकि वहां साधक बाधक प्रामाणों के द्वारा एक विशेष अलंकार उपमा या रूपक का निर्णय कर दिया गया है। किन्तु जहां किसी एक विशेष अलंकार का निर्णय नहीं होता—वहां 'यह मानें कि वह मानें' इत्यादि संदेह रहने से 'संदेह-संकर' होता है।

उदाहरण—

नैनन को आनन्द यह सोहत है विधु-बिम्ब

यहां अनेक अलंकारों का 'संदेह सकर' है। जहां केवल उपमान का ग्रहण हो, उपमेय का न हो वहां 'रूपकातिशयोक्ति' होती है, यहां भी 'विधुबिम्ब' उपमान तो बता दिया गया है परन्तु उपमेय 'नायिका' के मुख का नाम नहीं लिया, इस-

लिये 'रूपकातिशयोक्ति' है (देखो पृ० १२९) । 'यह' शब्द विधुविम्ब का विशेषण है ।

यदि 'यह' शब्द को विशेषण न मानें किन्तु नायिका के मुख का बोधक मानें तो 'रूपक' अलंकार होगा । उपमान और उपमेय का जहां अभेद हो वहा 'रूपक' होता है यहा भी उपमेय (नायिका का मुख) और उपमान (विधुविम्ब) का अभेद मानने से 'रूपक' हो सकता है । (देखो पृ २२)

'यह' शब्द से बोधित नायिका का मुख उपमेय होने से 'प्रस्तुत' है, और विधुविम्ब उपमान होने से 'अप्रस्तुत' है। जहा प्रस्तुत और अप्रस्तुत का समान धर्म बताया गया हो वहा 'दीपक' होता है । यहा भी 'नैनन को आनन्द' (आखों को आनन्द देने वाला) इस पद से दोनों का समान धर्म बताया है, इसलिये 'दीपक' है । (देखो पृ १४८)

यदि मुख और विधुबिम्ब दोनों को प्रस्तुत मान लें तो 'प्रथम तुल्य-योगिता' होती है (देखो पृ १४२)

इन अलकारों को यहा मानने न मानने में कोई साधक बाधक युक्ति नहीं है । इसलिये यहां इनका सदेह-सकर है ।

एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर ।

जहां एक ही आश्रय (शब्द) में अनेक अलंकार हों वहां 'एकाश्रयानुप्रवेश संकर' होता है ।

स्वकुल की करिये शुभ कामना ।

सपदि युक्ति वही नृप मोचिये ॥

न अब्र भी जिस मे करना पड़े ।

कठिन सङ्कर सङ्ग रमेश के ॥

यहां अन्तिम पङ्क्ति मे 'सङ्कर सङ्कर' यह यमक है, 'ङ्ग' की एक वार आवृत्ति होने से 'छेकानुप्रास' भी है । ये दोनों अलङ्कार एक ही (समान) शब्द में हैं इसलिये इन दोनों का 'एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर' है ।

भावी भारत- गौरव-गढ़ की सुदृढ नींव के जो पत्थर ।

आर्य देश की अटल इमारत का बनना जिन पर निर्भर ॥

यहां 'भारत गौरव-गढ़' पद मे रूपक और अनुप्रास दोनों का 'एकाश्रयानुप्रवेश-संकर' है ।

श्रीरस्तु